धर्मामृत

भाग-1

Book No - 26

I.S B.N. No . 81-878280-66

DHARMAMRAT

PART-I

of

Jain Acharya Naisen

Edited by

Upadhyaya Muni Nirnaya Sagar

Published by

Nirgranth Granthmala

भगवान श्री 1008 महावीर स्वामी जी की 2600 वीं जन्म जयन्ती
के पुनीत अवसर पर निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला की नवीन प्रस्तुति

आचार्य भगवन् श्री नयसेन स्वामी विरचित

भाग-1
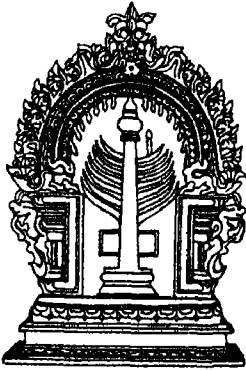
निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला

उपाध्याय मुनि निर्णय सागर

संस्करण : प्रथम – सन् 2002
I.S.B.N. No. : 81-878280-67

धर्मामृत-1

आचार्य भगवन् श्री नयसेन विरचित

पावन आशीष : राष्ट्रसंत आचार्य श्री 108 विद्यानन्द जी महाराज

सम्पादक उपाध्याय मुनि निर्णय सागर

सहयोगी ·
ऐलक श्री 105 विमुक्त सागर जी
क्षुल्लक श्री 105 विशक सागर जी

प्रकाशक
निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला

मुद्रक
अनिल कुमार जैन
चन्द्रा कॉपी हाउस,
हॉस्पीटल रोड, आगरा (उ प्र)
✆ 360195, 260938

मूल्य . स्वाध्याय (लागत मूल्य 20/-)

शास्त्र प्राप्ति स्थान

❖ 1 चन्द्रा कॉपी हाउस, हॉस्पीटल रोड, आगरा (उ0प्र0)
❖ 2 श्री दि0 जैन लाल मदिर, चाँदनी चौक, नई दिल्ली
❖ 3 अ0 भा0 सम्यग्ज्ञान शिक्षण समिति शाखा हटा, दमोह (म0प्र0)
❖ 4 धर्म जाग्रति संगठन व महावीर संगठन, फिरोजाबाद (उ0प्र0)
❖ 5 वास्ट जैन फाउन्डेशन, 59/2 बिरहाना रोड, कानपुर (उ0प्र0)

राष्ट्रपति सचिवालय,
राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली-110004,

President's Secretariat,
Rashtrapati Bhavan,
New Delhi-110004.

विशेष कार्य अधिकारी
OFFICER ON SPECIAL DUTY

सं : 8 एम.एच/2001   दिनांक : 08 जनवरी, 2002
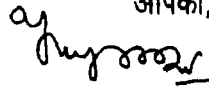
प्रिय श्री जैन जी,

भारत के राष्ट्रपति श्री के.आर. नारायणन् जी को यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि भगवान महावीर स्वामी की 2600वीं जयंती के अवसर पर पूर्व दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत व उपाध्याय श्री निर्णय सागर जी महाराज द्वारा सम्पादित एवं रचित 26 धार्मिक ग्रंथों का प्रकाशन आरम्भ किया जा रहा है।

राष्ट्रपति जी इन प्रकाशनों की सफलता के लिए अपनी शुभकामनाएं प्रेषित करते हैं।

सादर,

आपका,

(प्रेम प्रकाश कौशिक)

श्री राजेन्द्र प्रसाद जैन,
मंत्री,
श्री पार्श्वनाथ दि. जैन मंदिर,
एन-10, ग्रीन पार्क एक्स.,
नई दिल्ली-110016

उपाध्याय मुनि श्री निर्णय सागर द्वारा रचित एवं सम्पादित ग्रंथावली

सुकुमाल चरित्र
चारुदत्त चरित्र
गौतम स्वामी चरित्र
महीपाल चरित्र
जैन व्रत कथा संग्रह
धन्य कुमार चरित्र
सुलोचना चरित्र
सुभौम चक्रवर्ती चरित्र
जिन दत्त चरित्र
कुरल-काव्य
पुराण सार संग्रह - 1
पुराण सार संग्रह - 2
चेलना चरित्र
रयणसार
आहार दान
जिन श्रमण भारती
धर्म संस्कार भाग-1
सदार्चन सुमन
तनाव से मुक्ति
धम्म रसायणं
अराधना कथाकोश-1,2,3
तत्यार्थ सार
योगामृत
सार समुच्चय

महापुराण-1
महापुराण-2
चित्रसेन पद्मावती चरित्र
श्री राम चरित्र
अमरसेण चरिउ
नागकुमार चरित्र
सर्वोदयी नैतिक धर्म
पुण्यास्रव कथाकोष भाग-1
पुण्यास्रव कथाकोष भाग-2
करकंड चरित्र
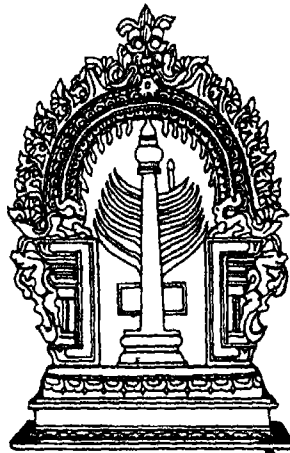
निर्ग्रन्थ ग्रन्थमाला

यदि यह शास्त्र आपको अच्छा लगे तो आप सभी को पढायें। उत्सव, व्रत, त्यौहार, जन्म दिवस, पुण्य स्मृति के उपलक्ष्य में बॉटने एवं छापने योग्य समझें तो लागत मूल्य पर छपवाइये। ट्रस्ट -न्यास- फाउंडेशन आदि द्वारा छपवाना चाहते हो तो उनके नाम, चित्र, परिचय सहित छपवा सकते हैं।

प्रकाशक

सम्पादकीय

श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रणीत जिनागम चार अनुयोगों में विभक्त है, जिस प्रकार गाय के चारों स्तनों में दूध समान वर्ण, शक्ति, स्वाद, स्पर्श व उपयोगिता से युक्त होता है उसी प्रकार पुष्प की चार पंखुड़ी की तरह ही प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग ये जिनवाणी के चार अनुयोग हैं। जिनवाणी का प्रत्येक शब्द प्राणी मात्र का कल्याण करने में समर्थ है, यदि हम उस शब्द का सही अर्थ समझने का प्रयास करें तो। जैन दर्शन में सभी कथन सापेक्ष हैं निरपेक्ष कथन तो अकल्याणकारी ही होता है। जिन वचन ही समस्त भव रोगों के लिए परमौषधि के समान है। इन्हीं का (जिन वचनों का) समीचीन आश्रय/अवलम्बन भव्य जीवों को भव वारिधि से तारने के लिए समुचित व समर्थ नौका के समान है। जिन वचनों की महिमा के बारे में आचार्य भगवन् श्री कुन्दकुन्द स्वामी जी कहते हैं-

जिण वयण मोसह मिणं, विसय सुह विरेयणं अमिद भूयं।
जर मरण वाहि हरणं, खय करणं सव्व दुक्खाणं ॥17॥द. पा.

जिनेन्द्र भगवान के वचन रूपी यह औषधि विषय सुखों का विरेचन करने वाली तथा अमृतभूत है। जन्म, जरा, मृत्यु रूपी रोगों की परिहारक एवं सर्व दुखों का क्षय करने वाली है। उस परमौषधि का सेवन हमें अपनी पात्रता के अनुसार करना है। जिस प्रकार कुशल वैद्य रोगी की वय, रोग, शक्ति, प्रकृति, मौसम का प्रभाव देखकर, औषधि की मात्रा, सेवन की विधि व पथ्यापथ्य की बातों का समीचीन विचार करके ही रोगी को औषधि का सेवन कराता है, उसी प्रकार परम पूज्य श्री दिगम्बर जैनाचार्य रूपी कुशल वैद्यों के निर्देशानुसार हम सभी को भी क्रमशः जिनागम का स्वाध्याय करना है तभी हम जन्म, जरा, मृत्यु जैसे रोगों से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। यदि हमने कुशल वैद्य के निर्देशों व सुझावों की उपेक्षा करके स्वेच्छाचारिता पूर्वक (मनमाने ढंग से) औषधि का सेवन किया तो हो सकता है रोग नष्ट होने की बजाय बढ़ भी सकता है। तथा साथ में अन्य भी कई रोग पैदा हो सकते हैं अतः जिनागम (जिनेन्द्र भगवान या आप्त प्रणीत, गणधर भगवन्तों द्वारा संग्रहीत एवं दिगम्बर मुनियों द्वारा लिपिबद्ध शास्त्रों को ही जिनागम कहते हैं) का प्रत्येक अक्षर, शब्द, पद, वाक्य श्रद्धान के योग्य हैं। जिनवाणी का कोई भी अंश/अंग उपेक्षणीय नहीं है। आचार्य भगवन् श्री शिव कोटि महाराज कहते हैं -

पद मक्खर च एक्कंपि जो ण रोचेदि सु णिदिट्ठं।
सेसं रोचंतो वि हू मिच्छा दिट्ठी मुणेयव्वा ॥ (मूलाराधना)

जो जिनागम में प्रणीत एक भी अक्षर, शब्द, वाक्य या गाथा की श्रद्धा न करे और समस्त आगम को माने या उस पर श्रद्धा करे तो भी वह मिथ्या दृष्टि है अतः कोई

भी अनुयोग कभी अकल्याणकारी नहीं होता अपनी पात्रता के अनुसार सभी का स्वाध्याय करना चाहिए।

प्रथमानुयोग के ग्रंथों में त्रेसठ शलाका के महापुरुषों का जीवन चरित्र दर्शाया गया है "उन्होंने जीवन में जो शुभाशुभ क्रियायें की, पुण्य पाप का बंध किया उसका क्या फल प्राप्त हुआ" का वर्णन है। एवं कर्म सिद्धान्त को प्रत्यक्ष दूरदर्शन (चलचित्र) पर चल रहे चित्रों की तरह दिखाया गया है। प्रथमानुयोग के शास्त्रों का प्रारम्भिक दशा में (स्वाध्याय के क्रम में) स्वाध्याय अत्यन्त आवश्यक है। इस अनुयोग का स्वाध्याय करने से पापों से भीति, जिनेन्द्र भगवान में प्रीति, सच्चे देव, शास्त्र, गुरु व जिनधर्म में अनुराग व रुचि, संयम प्राप्ति की प्रबल भावना, संसार शरीर भोगों से उदासीनता/विरक्ति, रत्नत्रय में अनुरक्ति की भावना जागृत होती हैं। आचार्य भगवन् समन्तभद्र स्वामी जी कहते हैं -

प्रथमानुयोग मर्थाख्यानं चरितं पुराण मपि पुण्यम्।
बोधि समाधि निधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥43॥ र. श्रा.

प्रथमानुयोग पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादक है। पुराण/पौराणिक पुरुषों के पुण्य चरित्र का कथन करता है यह बोधि (रत्नत्रय - सम्यक दर्शन, ज्ञान, चारित्र) एवं समाधि- निर्विकल्प ध्यान की अवस्था (जो अभेद रत्नत्रय के प्राप्त होने पर शुद्धोपयोगी मुनि के आत्मा में लीन होने पर प्राप्त होती है जिसे आत्मानुभूति भी कहते हैं इसका प्रारंभ सातवें अप्रमत्त गुणस्थान से होता है इसके पूर्व शुद्ध आत्मा की प्रत्यक्षानुभूति कदापि संभव नहीं है। अर्थात् असम्भव है) का खजाना हैं ऐसे समीचीन बोध को देने वाला प्रथमानुयोग/कथानक है अपितु उनमें श्रावक धर्म व मुनि धर्म का कथन करने वाला चरणानुयोग भी उपलब्ध होता है। गुणस्थानों, मार्गणा स्थानों, दस प्रकार के करणों एवं त्रिलोक संबधी कथन होने से करणानुयोग, जीव की स्थिति तथा जीवादि द्रव्यों के स्वभाव, शुद्ध गुण, पर्याय का कथन भी प्रथमानुयोग में मिलने से द्रव्यानुयोग भी दृष्टिगोचर होता है। प्रथमानुयोग में भी संक्षेप रूप से चारों अनुयोगों का कथन मिल जाता है ऐसा कहना भी कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

स्वाध्याय से विमुख या एकान्तवाद की पंक में लिप्त जो अज्ञ महानुभाव प्रथमानुयोग को कथा कहानी कहकर उसकी उपेक्षा करते ही हैं वे अपने जीवन के साथ खिलवाड़ तो करते हैं साथ ही जिनागम की अवहेलना कर अन्य भव्य जीवों के पतन में भी कारणरूप से सहभागी हो जाते हैं।

अतः मन्द कषायी, भद्र परिणामी, प्रशम, संवेग भावयुक्त उन समस्त स्वाध्याय प्रेमी, सत् श्रद्धालु धर्मस्नेही, आत्महितेच्छुक, पाप भीरु महानुभावों के लिए विनम्र सुझाव/निर्देश है कि वे जिनेन्द्र भगवान की वाणी का अपलाप करके पाप के भागीदार न बनें, अपितु समीचीन शास्त्रों का समीचीन विधि से स्वाध्याय करके स्वपर के कल्याण में सहयोगी बनें। सम्यक्ज्ञान रूपी नेत्र के बिना जीव कभी भी अपना कल्याण नहीं कर

सकता है अत: यथाशक्ति नित्य विनय पूर्वक विशुद्ध भावों से स्वाध्याय करने का समीचीन प्रयास करें।

इस ग्रंथ के पुन: प्रकाशन का उद्देश्य यही है कि अधिक से अधिक भव्य जीव स्वाध्याय के लिए प्रेरित हों। वर्तमान में स्वाध्याय की परम्परा मंद होती चली जा रही है क्योंकि जो स्वाध्याय करना चाहते हैं वे (प्रारम्भिक स्वाध्यायार्थी) बड़े-ग्रंथों को देखकर ही अपना साहस खो बैठते हैं। तथा प्रथमानुयोग के ग्रंथ सर्वत्र सहज सुलभ भी नहीं हो पा रहे हैं अधिकांशत: एकान्तवाद से दूषित साहित्य दृष्टिगोचर हो रहा है जिससे प्राणी मिथ्यात्व रूपी अंधकार में भटकते हुए भव भ्रमण की वृद्धि ही कर रहे हैं अत: प्रथमानुयोग के लघु शास्त्रों का प्रकाशन इस युग की आवश्यकता की पूर्ति में सहयोगी सिद्ध होगा।

इस ग्रंथ के सम्पादन में मुझ अल्पज्ञ साधक के द्वारा जो त्रुटि रह गई हों तो सकल संयमी विज्ञजन मुझे क्षमा करते हुए भूल सुधारने हेतु संकेत देने का कष्ट करें, इसमें जो त्रुटि हैं वे सब मेरी अल्पज्ञता की द्योतक हैं, तथा जो भी अच्छाई हैं वे सब परम पूज्य आचार्य भगवन्तों का सुप्रसाद ही हैं। अत: गुणग्राही बन कर गुण ग्रहण करें।

''अलमति विस्तरेण''

कश्चिदल्पज्ञ श्रमणः
जिन चरण चञ्चरीक
टूंडला (3.12.2000)

❄ ❄ ❄

तीर्थंकर भगवान श्री 1008 महावीर स्वामी जी का

जीवन परिचय

नाम	:	श्री महावीर स्वामी
माता का नाम	:	प्रियंकारिणी/त्रिशला
पिता का नाम	:	श्री सिद्धार्थ
चिन्ह	:	सिंह
आयु	:	72 वर्ष
अवगाहना	:	7 हाथ
गर्भ तिथि	:	आषाढ़ शु. 6
जन्म तिथि	:	चैत्र शु. 13
दीक्षा तिथि	:	मार्ग कृष्ण 10
केवलज्ञान तिथि	:	वै. शु. 10
निर्वाण तिथि	:	कार्तिक कृ. 15
यक्ष	:	गुह्यक
यक्षिणी	:	सिद्धायिनी
वैराग्य का कारण	:	जातिस्मरण
दीक्षा वन	:	नाथ
दीक्षा वृक्ष	:	साल
सहदीक्षित	:	एकाकी
छद्मस्थ काल	:	12 वर्ष
कुल गणधर	:	11
मुख्य गणधर	:	इन्द्रभूति
मुख्य श्रोता	:	श्रेणिक
मुख्य आर्यिका	:	चन्दना
प्रथम आहार दाता	:	चन्दना
सर्व ऋषि	:	14000
सर्व आर्यिका	:	36000/35000
श्रावक	:	1,00,000
श्राविका	:	3,00,000
केवली काल	:	30 वर्ष
तीर्थकाल	:	21042 वर्ष
वंश	:	नाथ
देवगति से पूर्व भव का नाम	:	नन्द/सुनन्द/नन्दन

भगवान महावीर स्वामी और उनके सिद्धान्त

भगवान महावीर स्वामी जैन धर्म के चौबीसवें/अंतिम तीर्थंकर थे, किंतु जैन ऐतहासिक परम्परानुसार वे जैन धर्म के न तो आदि प्रवर्तक थे और न ही सदा के लिए अंतिम तीर्थंकर। जैन धर्म की स्थापना किसी व्यक्ति विशेष के माध्यम से नहीं हुई क्योंकि यह जैन धर्म 'वस्तु के स्वभाव को ही धर्म कहता है'। संसार में विद्यमान समस्त पदार्थ अनादि निधन हैं यह सृष्टि भी अनादि-निधन है अतः पदार्थों का कभी अभाव नहीं होता। यथा जल का स्वभाव शीतलता व अग्नि का स्वभाव उष्णता है। ये स्वभाव अनादि-निधन हैं। इन्द्रिय व कर्म विजेता जिनधर्म प्रवर्तक जिनेन्द्र भगवान व तीर्थंकर अनादि काल से होते आ रहे हैं और अनंत काल तक होते रहेंगे। तीर्थंकर महापुरुषों द्वारा उपदिष्ट धर्म में अपने अपने युग के अनुसार विशेषताएँ भी रहती हैं और उनके मौलिक स्वरूप में तालमेल भी बना रहता है।

वर्तमान युग में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुए, जिनका वर्णन न केवल जैन पुराणों में अनिवार्यतः आता है, अपितु भारत के प्राचीन ग्रंथों ऋग्वेद आदि में भी बाहुल्यतः मिलता है। यथा-ऋग्वेद के 10 वें पर्व की 102 व 10 वीं ऋचा में, इसी पर्व की 136, 166, 233 ऋचाओं में; इसके अतिरिक्त भाग0 पुराण 5, 6 में व विष्णु पुराण के 3, 18 में भी वृषभनाथ के केशी, वातरसना, ऋषभनाथ आदि नाम ध्यान देने योग्य हैं।

उन वृषभदेव से लेकर महावीर भगवान पर्यंत 24 तीर्थंकरों के चरित्र का विधिवत् वर्णन जैन पुराणों में है।

धार्मिक, सैद्धान्तिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक, आगमिक दृष्टियों से उनमें एक रूपता तथा एक आत्मा की व्याप्ति प्रकट करने के लिए महावीर स्वामी के पूर्व जन्म की परम्परा भगवान वृषभदेव से जुड़ी हुई है।

पुरुरवा भील से मारीचि तक

पुरुरवा भील जिसने जंगल में शिकार करते समय 'सागरसेन' मुनिराज के दर्शन करने मात्र से कौए के मांस का त्याग किया था। इस नियम का उसने विषम परिस्थितियों में भी पालन किया। वही पुरुरवा भील मृत्यु के उपरांत सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। वहां से प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती (जिसके नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा) का पुत्र मारीचि कुमार हुआ। 'भरत चक्रवर्ती के नाम से इस देश का नाम भारत पड़ा' यह कथन वैदिक पुराणों में भी एक मत से स्वीकार किया गया है यथा-

भागवत पुराण	5, 4, 9, 11, 2
विष्णु पुराण	2, 1, 31,
वायु पुराण	33,52
अग्नि पुराण	107,11,12
ब्रह्माण्ड पुराण	14,5,62

लिंग पुराण	1,47,23
स्कन्द कुमार खण्ड	37,57
मार्कण्डय पुराण	50, 41

इत्यादि पुराणों आदि में उपरोक्त कथन का स्पष्टतः उल्लेख है।

मारीचि से सिंह पर्याय तक

मारीचि ने वृषभदेव के चरणों में जिनदीक्षा अंगीकार कर ली, किंतु वह आदि तीर्थंकर द्वारा निर्दिष्ट कठोर मुनिव्रतों का पालन नहीं कर सका अतः वह मुनि पद से भ्रष्ट हो गया मात्र अल्प काल ही मुनि रहा। इस पद से भ्रष्ट होने के बावजूद भी उसमें धर्म का बीजारोपण तो हो ही चुका था अतएव वह परिव्राजक साधु बन गया। भगवान वृषभदेव से अपने बारे में 'यह तीर्थंकर होगा' यह सुनकर अहंकार से जिनमत को छोड़कर 363 मिथ्यामतों की स्थापना करने वाला हुआ। दुर्धर कुतप करने से एवं अज्ञानतापूर्वक चारित्र का परिपालन करने से वह देव हुआ। पुनः अनेक बार देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी पर्याय में मारीचि ने भ्रमण किया। असंख्यात् भवों को धारण कर कुछ कम एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम काल तक उसने परिभ्रमण किया।

अन्यत्र यह लिखा है कि सौधर्म स्वर्ग से आकर अग्निसह ब्राह्मण हुआ। पुनः स्वर्ग गया। वहां से च्युत होकर अग्निमित्र परिव्राजक बना। पश्चात् माहेन्द्र स्वर्ग गया वहां से च्युत हो भारद्वाज ब्राह्मण हुआ। पुनः परिव्राजक बन कर माहेन्द्र स्वर्ग गया वहां से निकलकर उसने तिर्यञ्च गति में व अधोगति में परिभ्रमण किया पुनः मारीचि का जीव सागरोपम काल के लिये इतर निगोद गया इसके अनन्तर उसने इन भवों को धारण किया-

1000 (एक हजार)	आक के वृक्ष के भव
80,000 (अस्सी हजार)	सीप के भव
20,000 (बीस हजार)	नीम के भव
90,000 (नब्बे हजार)	केलि के भव
3,000 (तीन हजार)	चन्दन के भव
5,00,00,000 (पांच करोड़)	कनेर के भव
60,000 (साठ हजार)	वेश्या के भव
5,00,00,000 (पांच करोड़)	शिकारी के भव
20,00,00,000 (बीस करोड़)	हाथी के भव
60,00,00,000 (साठ करोड़)	गधा के भव
30,00,00,000 (तीस करोड़)	श्वान के भव
20,00,00,000 (बीस करोड़)	नारी के भव
8,00,00,000 (आठ करोड़)	घोड़ा के भव
20,00,00,000 (बीस करोड़)	बिल्ली के भव

80,00,000 (अस्सी लाख)	देव पद के भव
60,00,000 (साठ लाख)	नपुंसक के भव
90,00,000 (नब्बे लाख)	धोबी के भव
60,00,000 (साठ लाख)	अकाल मरण,गर्भपात के भव
50,000 (पचास हजार)	राजा के भव

अनेक भव सुपात्र को दान देने से भोगभूमि के व कुपात्र को दान देने से कुभोग भूमि के प्राप्त किये।

तदनन्तर जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड के मगध देश के राजगृह नगर में वेद पारंगत शांडिल्य ब्राह्मण की पाराशरी ब्राह्मणी से 'स्थावर' नामक पुत्र हुआ। पुनः वेद पारंगत होकर परिव्राजक बन माहेन्द्र स्वर्ग में सात सागर की आयु का धारक देव हुआ। वहां से चयकर इसी राजगृह नगर में विश्वभूति नामक राजा की जैनी नामक रानी से विश्वनंदी नामक पुत्र हुआ। इसी विश्वभूति राजा का भाई विशाखभूति था। एक दिन अपने विश्वभूति राजा विरक्त हो अपने छोटे भाई को राज्य पद व अपने पुत्र को युवराज पद देकर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर कठिन तप करने लगा।

किसी दिन विश्वनंदी युवराज के मनोहर नामक बगीचे को देखकर चाचा के पुत्र विशाखनंदी ने अपने पिता से उसकी याचना की। विशाखभूति राजा ने भी मायाचारी से विश्वनंदी को शत्रुओं पर आक्रमण के लिए भेजकर वह उद्यान अपने पुत्र के लिए दे दिया। विश्वनंदी को इस बात का पता लगाते ही उसने वापिस आकर विशाखनन्दी को पराजित कर दिया और उसको भयभीत देख विरक्त होकर उसको उद्यान सौंप कर आप स्वयं दैगम्बरी दीक्षा लेकर तप करने लगा।

घोर तपश्चरण करते हुए अत्यन्त कृश शरीरधारी विश्वनंदी मुनिराज एक दिन मथुरा नगरी में आहार के लिए आये। व्यसनों से भ्रष्ट यह विशाखनन्दी उस समय किसी राजा का दूत बनकर वहां आया हुआ था और एक वेश्या के भवन की छत पर बैठा मुनि को देख रहा था। दैवयोग से वहां एक गाय ने मुनिराज को धक्का देकर गिरा दिया। उन्हें गिरता देख क्रोधित हुआ विशाखनंदी बोला कि 'तुम्हारा पराक्रम हमें मारने को पत्थर का खम्भा तोड़ते समय देखा गया था वह आज कहां गया? इस प्रकार खोटे वाक्यों को सुनकर मुनिराज के मन में भी क्रोध आ गया और बोले कि इस हंसी का फल तुझे अवश्य मिलेगा। और अंत में निदान सहित सन्यास से मरण कर मुनिराज महाशुक्र स्वर्ग में देव हुए और विशाखभूति राजा (चाचा) का जीव भी वहां पर तप पूर्वक मरण करके देव हुआ। चिरकाल तक सुख भोगकर वे दोनों वहां से च्युत होकर सुरम्य देश के पौदनपुर नगर में प्रजापति महाराज की जयावती रानी से विशाखभूति का जीव 'विजय' नामक बलभद्र पदवी धारक पुत्र हुआ और उन्हीं की दूसरी मृगावती रानी से विश्वनंदी का जीव नारायण पद धारक त्रिपृष्ठ नामक पुत्र हुआ एवं विशाखनंदी का जीव चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण कर विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी के अलकापुर नगर में मयूरग्रीव विद्याधर की नीलाञ्जना रानी

से अश्वग्रीव का नाम प्रतिनारायण पद का धारक पुत्र हुआ। पूर्व जन्म के संस्कार से त्रिपृष्ठ नारायण ने अश्वग्रीव प्रतिनारायण को मारकर चक्र रत्न प्राप्त किया। चिरकाल तक राज्य सुख को भोगकर अंत में भोगासक्ति से मरकर सांतवें नरक को प्राप्त किया। वहां के दुखों को सागरों पर्यंत सहकर उसी भरत क्षेत्र की गंगा नदी के तट के समीपवर्ती वन में सिंहगिरि पर्वत पर सिंह हुआ, वहां भी तीव्र पाप से पुनः प्रथम नरक को प्राप्त किया। वहां एक सागर तक दुख भोग कर जम्बूद्वीप में सिंहकूट की पूर्व दिशा में हिमवन पर्वत के शिखर पर सिंह हो गया।

सिंह का उत्थान

किसी समय यह सिंह किसी हरिण को पकड़ कर खा रहा था। उसी समय अतिशय दयालु 'अजितंजय' नामक चारण मुनि अमितगुण नामक चारणमुनि के साथ आकाश में जा रहे थे। उन्होंने उस सिंह को देखा, देखते ही वे तीर्थंकर के वचनों का स्मरण कर दयावश आकाशमार्ग से उतरकर उस सिंह के पास पहुंचे और शिलातल पर बैठकर उच्च स्वर से सम्बोधन कर धर्ममय वचन कहने लगे। उन्होंने कहा कि हे मृगराज! तूने पहले त्रिपृष्ठ नारायण के भव में इन्द्रियों में आसक्त होकर मरकर नरक पर्याय प्राप्त की। वहां के दुख भोगकर वहां से निकलकर सिंह पर्याय पाकर क्रूरकर्मी होकर पुनः नरक गया अब वहां से निकलकर पुनरपि सिंह पर्याय को प्राप्त हुआ है। अरे मृगराज !

अब इस भव से तू दशवें भव में अन्तिम तीर्थंकर होगा। यह सब मैंने श्रीधर तीर्थंकर के मुख से सुना है। हे बुद्धिमान! अब तू आज से संसार रूपी अटवी में गिराने वाले मिथ्यामार्ग से विरत हो और आत्मा का हित करने वाले मार्ग में रमण कर।

इस प्रकार उस सिंह ने मुनिराज के वचन हृदय में धारण किये तथा उन दोनों मुनिराजों की भक्ति के भार से नम्र होकर बार-बार प्रदक्षिणाएं दीं बार-बार प्रणाम किया। शुभ निमित्त के मिल जाने से शीघ्र ही तत्व श्रद्धान धारण किया और मन स्थिर कर श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये।

इस प्रकार संयमासंयम के व्रतों का पालन करते हुए सिंह अन्त में सन्यास धारण करके एकाग्रचित्त से मरा अंत में सौधर्म स्वर्ग में सिंहकेतु नामक देव हुआ। वहां दो सागर तक सुखों को भोग कर वहां से च्युत होकर धातकीखंड के पूर्व विदेह की मंगलावती देश के विजयार्द्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी के कनकमाला नगर के राजा कनकपुंख विद्याधर और कनकमाला रानी के गर्भ से कनकोज्ज्वल नामक पुत्र हुआ। किसी समय मंदर पर्वत पर 'प्रियमित्र' मुनिराज से दीक्षा लेकर अंत में समाधि से मरणकर सांतवे स्वर्ग में देव हुआ। वहां से च्युत होकर इसी अयोध्या नगरी के राजा वज्रसेन की शीलवती रानी से हरिषेण नामका पुत्र हुआ। पुनः राज्य भार को छोड़कर श्रुतसागर मुनि से दीक्षा लेकर आयु के अंत में महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ। वहां से च्युत होकर धातकीखंड के पूर्व विदेह की पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी के राजा सुमित्र और उनकी मनोरमा रानी से प्रियमित्र पुत्र हुआ। इस प्रियमित्र ने चक्रवर्ती के वैभव को प्राप्त किया था।

अनन्तर क्षेमंकर तीर्थंकर से दीक्षा लेकर आयु के अंत में सहस्रार स्वर्ग में देव सुख का अनुभव कर जम्बूद्वीप के छत्रपुर नगर में नन्दिवर्धन महाराजा की वीरवती महारानी से नन्द नामक पुत्र हुआ। यहां पर भी अभिलक्षित राज्य सुख को भोग कर प्रोष्ठिल नाम के गुरु के पास दीक्षा लेकर उग्र तपश्चरण करते हुए ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया और दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिंतवन कर तीर्थंकर नमकर्म का बंध किया। आयु के अंत में सब प्रकार की आराधनाओं को प्राप्त कर अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में श्रेष्ठ इन्द्र हुआ।

जब इस इन्द्र की आयु 6 महीने शेष थी तब इस भरत क्षेत्र के विदेह नामक देश सम्बन्धी कुण्डलपुर नगर के राजा सिद्धार्थ के भवन के आंगन में इन्द्र की आज्ञा से कुबेर के द्वारा की गयी प्रतिदिन साढ़े दश करोड़ या चौदह करोड़ रत्नों की मोटी धारा बरसने लगी।

श्री शुभमिती आषाढ़ शुक्ला षष्ठी, शुक्रवार 17 जून ईसवी सन् से 599 वर्ष पूर्व की रात्रि के पिछले प्रहर में सिद्धार्थ महाराज की रानी प्रियकारिणी ने सोलह स्वप्न देखे एवं प्रभात में अपने पतिदेव से उन स्वप्नों का फल सुनकर संन्तोष प्राप्त किया। अनन्तर देवों ने आकर भगवान का गर्भ कल्याणक उत्सव मनाते हुए माता-पिता की विधिवत् पूजा की। अर्थात् माता त्रिशला के गर्भ में अच्युतेन्द्र का जीव आ गया।

जन्म कल्याणक

नव मास व्यतीत होने पर चैत्र सुदी 13 सोमवार 27 मार्च ईसवी सन् से 598 वर्ष पूर्व माँ त्रिशला ने तीर्थंकर बालक को जन्म दिया। उनके जन्म से तीनों लोको में क्षण भर के लिए शांति की लहर छा गई। उनके जन्म से सर्वत्र सुख शांति, धर्म, लक्ष्मी, यश आदि की वृद्धि हुई थी। इसलिये उनका नाम वर्धमान रखा गया। सौधर्म इन्द्र ने मेरु पर्वत की पांडुक शिला पर असंख्यात देव समूह के साथ उन भगवान बालक का अभिषेक किया।

संजयंत व विजयंत नामक मुनिराजों का संशय उनको देखने मात्र से दूर हो गयाथा। अतः उन्होंने उनको 'सन्मति' कहकर सम्बोधित किया। बाल्यावस्था में ही संगम देव द्वारा ली गई परीक्षा में वे सफल हुए। संगम देव इनकी शक्ति व निर्भयता देखकर दंग रह गया, उसने नम्रीभूत होकर उनकी 'महावीर' नाम से स्तुति की।

भगवान महावीर पांचवे बालयति तीर्थंकर थे। इनके पूर्व वासुपूज्य भगवान, मल्लिनाथ भगवान, नेमिनाथ भगवान, पार्श्वनाथ भी बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकर थे। इन्होंने स्वेच्छा से शादी नहीं रचायी। सकल विषय वासनाओं को जीतकर तीस वर्ष की वय में इन्होंने मंगसिर वदी 10 सोमवार 20 दिसम्बर सन् ईसवी सन् से 569 वर्ष पूर्व में दिगम्बर जिन दीक्षा ग्रहण की।

बारस वर्ष की कठोरतम मौन व्रत एवं संयम साधना व आत्म ध्यान के फल स्वरूप जृम्भिका ग्राम के समीप, ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नामक वन में भगवान महावीर स्वामी को वैशाख सुदी 10 रविवार 26 अप्रैल ईसवी सन् से 537 वर्ष पूर्व को चार घातिया कर्मों को

क्षय कर केवलज्ञान को प्राप्त किया। योग्य श्रोता/ गणधर के अभाव में भगवान की दिव्यध्वनि 66 दिन तक नहीं खिरी। अर्थात् धर्मोपदेश नहीं हुआ। महावीर स्वामी का प्रथम धर्मोपदेश श्रावण कृष्णा 1, वीर शासन जयंती 1-1-1 को अथवा ईसवी सन् से 557 वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ था।

30 वर्ष तक भगवान महावीर स्वामी ने केवली अवस्था में अनेकों देशों में विहार कर धर्म का उपदेश भव्य जीवों को दिया। उनके समवशरण में अंसख्यात देव देवियां, लाखों मनुष्यों/श्रावकों व लाखों श्राविकाएं, हजारों दिगम्बर मुनि व हजारों साध्वीयां/आर्यिका माताएं थीं। प्राणी मात्र को कल्याण का उपदेश देने वाले भगवान महावीर स्वामी ने लगभग 72 वर्ष की उम्र में शेष चार अघातिया कर्मों को भी क्षय करके कार्तिक वदी 14 की रात्रि के अंतिम पहर या कार्तिक वदी अमावस्या के प्रात: काल मंगलवार 15 अक्टूबर ईसवी सन् से 527 वर्ष पूर्व को मोक्ष प्राप्त किया।

भगवान महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित/प्रचारित सिद्धान्तों को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम ज्ञेय सिद्धान्त, द्वितीय आचरणीय सिद्धान्त।

I. ज्ञेय सिद्धान्त

अर्थात् जानने योग्य सिद्धान्त। वस्तु तत्व को यथार्थ रूप से समझने के लिए जिनमत के रहस्य मयी सूत्रों को आत्मसात करने के लिए, आत्मा को परमात्मा बनाने की कला सीखने के लिए, विश्व के प्रत्येक प्राणी की मनोभावना व वाच्य सिद्धांतो को समझने के लिए भगवान महावीर स्वामी के ज्ञेय सिद्धान्तों को जानना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। उन ज्ञेय सिद्धान्तों को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है-प्रथम अनेकान्तात्मक सिद्धान्त या अनेकान्तवाद, द्वितीय स्याद्वाद।

1. अनेकान्तवाद

प्रत्येक द्रव्य में अनन्त धर्म विद्यमान हैं या प्रत्येक द्रव्य में अनेक गुण, स्वभाव या लक्षण पाये जाते हैं। अनेकान्त का शब्दिक अर्थ है-अनेक है अंत जिसके, अर्थात् जिसमें अनन्त धर्म हैं। अनेकान्तात्मक दृष्टि से वस्तु तत्व को जानने वाला वाद ही अनेकान्त वाद है। यथा-राम एक होते हुए भी अनन्त धर्मा हैं, उनमें पितृत्व, पुत्रत्व, भ्रातृत्व, पतित्व, पौत्रत्व, प्रपौत्रत्व, पितामहत्व, प्रपितामहत्व, मानवता, जीवन्त, भव्यत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, भेदत्व, अभेदत्व इत्यादि धर्म हैं। इन परस्पर विरोधी सर्व धर्मों को बिना विरोध के जो ग्रहण करता है वही अनेकान्त वाद है।

2. स्याद्वाद

श्री महावीर प्रभु का वस्तु तत्व को जानने वाला दूसरा प्रमुख सिद्धान्त है-स्याद्वाद। यह शब्द दो शब्दों के मेल से बना है-पहला शब्द है-स्याद व दूसरा शब्द है-वाद। इनमें 'स्याद' का

अर्थ कथञ्चित् है तथा 'वाद' शब्द का अर्थ कथन, वचन, वक्तव्य है। स्याद्वाद का अर्थ हुआ कि कथञ्चित् किसी बात को स्वीकार करना। द्रव्य में विद्यमान अनंत धर्मों का कथन एक साथ संभव नहीं है तथा वे धर्म परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। इन विरोधी धर्मों को भी जो कथंचित् (किसी अपेक्षा से यह भी सत्य है) सत्य कहता है वही है स्याद्वाद। स्याद्वाद समस्त विवादों को निबटाने व वस्तु तत्व का यथार्थ बोध कराने वाला अनुपम हेतु है।

II. भगवान महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित आचरणीय सिद्धान्त-

आचरण ही किसी धर्म की अंतर्चेतना हो सकती है, बिना आचरण के धर्म मुर्दा शरीर के बराबर है मुख्य रूप से भगवान महावीर स्वामी द्वारा उद्घोषित पांच सिद्धान्त सूत्र हैं। इनमें भी आत्म कल्याण व शांति का रहस्य छिपा हुआ है।

1. अंहिसा व्रत

मन, वचन, काय से किसी जीव को कष्ट नहीं पहुंचाना, न कष्ट देने हेतु किसी को प्रेरित करना, किसी हिंसा करने वाले की अनुमोदना न करना अहिंसा का स्थूल स्वरूप है। यथार्थता में तो किसी जीव के प्रति हिंसा के परिणाम भी न होना अथवा किसी भी पर पदार्थ के प्रति हिंसा के परिणाम भी न होना अथवा किसी पदार्थ के प्रति राग द्वेष का नहीं होना, अपनी आत्मा में लीन रहना ही परम अहिंसा है। इस अंहिसा की ही पूर्णता के लिए शेष चार सिद्धान्त रक्षा कवच की तरह हैं। यह अंहिसा ही जगज्जननी है, प्राणी मात्र का प्राणों से प्रिय धर्म है, यह आत्म-स्वभाव है, लक्षण है, धर्म है ,नियति है, चरम साध्य लक्ष्य है।

2. सत्य व्रत

मन, वचन, काय से सम्पूर्ण असत्य का त्याग करना, न वचन से असत्य बोलना, न शरीर से असद् चेष्टा करना और न ही मन में असद् विचार करना। असत्य के लिए प्रेरित करना तथा असत्यवादी असत्यार्थी असत्यासक्त की प्रशंसा नहीं करना, उसकी क्रिया की अनुमोदना नहीं करना, उसकी चेष्टाओं से सहमत नहीं होना ही सत्य व्रत है। पर भावों का सर्वथा त्याग कर निजात्मा में लीनता ही निश्चय से सत्य व्रत है।

3. अचौर्य व्रत

किसी की भूली हुई, पड़ी हुई, गिरी हुई, वस्तु को उस स्वामी की अनुमति के बिना ग्रहण करना या ग्रहण करने का भाव करना भी चोरी है, यह चोरी का स्थूल लक्षण है। सूक्ष्म रूप से; दूसरे के विचार, आशय, ज्ञान, यश, सुख, शांति छीनता भी चोरी है। जिस वस्तु का अधिकारी किसी और को होना चाहिए यदि आप उसके अधिकारी अवैध रूप से बन गये है तो वह भी चोरी है। निश्चयापेक्षा से तो पर पदार्थों का ग्रहण, आत्मा लीनता का अभाव चोरी है। स्वात्म लीनता ही निश्चय से अचौर्य व्रत है।

4. ब्रह्मचर्य व्रत

अपनी ब्रह्म स्वरूप आत्मा में लीन होना, किसी भी स्त्री के साथ काम सेवन, या इन्द्रिय विषय में प्रवृत्ति नहीं करना ही ब्रह्मचर्य व्रत है। यह व्यवहार ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। स्त्री मात्र के साथ मैथुन का मन, वचन, काय से त्याग करना ब्रह्मचर्य व्रत है।

5. अपरिग्रह व्रत

चेतन व अचेतन के भेद से परिग्रह के दो भेद हैं। इसके भी अंतरंग व बहिरंग के भेद से दो भेद हैं। उनके क्रमशः 14 व 10 भेद है। समस्त परिग्रह का मन वचन, काय से त्याग करना अपरिग्रह व्रत है। मन, वचन, काय से, कृत कारित अनुमोदना से समस्त बाह्य पदार्थों का त्याग करना, अपनी आत्मा में ही लीन हो जाना निश्चय से अपरिग्रह व्रत है। व्यवहार अपेक्षा से सकल बाह्य परिग्रह का, यथा शक्य अंतरंग परिग्रह का त्याग करना अपरिग्रह व्रत है।

इन पांचों व्रतों का पालन श्रावक एक देश करता है क्योंकि वह गृहस्थ है, उसके व्रत देश व्रत या अणुव्रत कहे जाते हैं तथा साधक को इन व्रतों का सकल देश या सम्पूर्णतया पालन करना चाहिए इन व्रतों के बिना आत्म-कल्याण असंभव ही है। इन पांच व्रतों का पालन करने से हजारों नियमों व संविधान के पालन की आवश्यकता नहीं है। इन्हीं में सभी नियम, कानून, विध ान व संविधान का पालन हो जाता है।

******

पुरोवाक्.......

—उपाध्याय मुनि निर्णय सागर

इस अखिल विश्व में मात्र तीन प्रकार के जीव विद्यमान हैं, प्रथम वे जो मिथ्यात्व/मिथ्या श्रद्धा से युक्त या मिथ्यात्व के अभिमुख हैं। जो कि भव समुद्र में आकण्ठ डूबे हुए हैं, विषय-वासनाओं में लीन हैं, कषायों के पोषण में सदैव तत्पर हैं। अपने स्वभाव तथा स्वरूप से विमुख हैं। पर पदार्थों के प्रति जिनकी एकत्व बुद्धि है। तथा बाह्य पदार्थों में लीन होने से या आत्मा में पर पदार्थों के साथ एकीकार होने से जो 'बहिरात्मा' संज्ञा को प्राप्त हैं। द्वितीय प्रकार के जीव वे हैं जिन्होंने अपनी श्रद्धा को समीचीन बना लिया है, जो संसार सागर से पार होना चाहते हैं, जिन्हें निज स्वरूप को प्राप्त करने की तीव्र पिपासा है, जिन्होंने आत्मा व अनात्मा के अंतर/भेद को जान लिया है, जिनकी दृष्टि निजात्मा की ओर है, जो पर पदार्थों से विरक्त या विरक्ति की ओर हैं, जो सच्चे देव, शास्त्र, गुरु व जिन धर्म के परम भक्त या अनुयायी हैं, जो पंच परमेष्ठी या उनके द्वारा प्ररूपित धर्म को ही परम शरण मानते हैं। तथा जो इस देह से देहातीत, भवातीत एवं कर्मातीत अवस्था को प्राप्त करने की तीव्राकांक्षा से युक्त हैं। तृतीय प्रकार के जीव वे हैं, जिनकी श्रद्धा न तो पूर्ण रूप से समीचीन है और न ही पूर्ण रूप मिथ्यात्व रूप ही है, अपितु सम्मिश्रण है। ऐसी सम्मिश्रण श्रद्धा (सम्यक् मिथ्यात्व की अवस्था) का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है, अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर वे जीव या तो सम्यक्त्व रूप अवस्था को प्राप्त कर लेंगे अथवा मिथ्यात्व की भूमि में पतित हो जायेंगे।

प्रस्तुत ग्रंथ मिथ्यात्व की गर्त में पड़े भव्य जीवों को निकालने में समीचीन अवलम्बन है। "डूबते को तिनके का सहारा" कहावत के अनुसार सच्चे देव, शास्त्र, गुरु व जिनधर्म ही भव पतित संसारी प्राणियों के उद्धारक हैं। बिना सम्यक्त्व/ सम्यग्दर्शन के किसी भी प्राणी का यह किसी भी काल में कल्याण/ निर्वाण नहीं हो सकता। "**धर्मामृत**" नामक, ग्रंथ सम्यक्दर्शन का उत्पादक, सद्ज्ञान वर्द्धक, एवं सम्यक् वैराग्य व चारित्र की प्रेरणा देने वाला है।

सम्यक्दर्शन धर्म का मूल/बीज है, जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति, वृद्धि व फलोत्पत्ति असंभव है उसी प्रकार बिना सम्यक्त्व के सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि व फलोत्पत्ति असंभव है।

प्राणों से रहित शरीर, दृष्टि से रहित नेत्र, ज्योति से रहित दीपक, स्निग्धता से रहित घृत, घृत से रहित दूध, अंकों से रहित शून्य/संख्या, शील से रहित चारित्र, दया से रहित धर्म, इन्द्रिय निग्रह या प्राणिरक्षा से रहित संयम, संत महात्मा/

विद्वान/दातापुरुषों से रहित समाज, किनारे से रहित नदी, गंध से रहित पुष्प, चाँदनी से रहित चन्द्रमा जिस प्रकार निरर्थक हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से रहित नर जीवन भी व्यर्थ है, क्योंकि सम्यक्दर्शन ही धर्म का जनक एवं समीचीन मानव जीवन का आधार है। सम्यग्दर्शन व मिथ्यादर्शन की विशेषता बताते हुए आचार्य भगवन् श्री समन्तभद्र स्वामी जी ने रत्न-करण्ड श्रावकाचार में कहा है—

न सम्यक्त्व सम किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यऽपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व सम नान्यत्तनूभृताम् ॥34 ॥रत्न.श्रा.

तीन लोकों व तीन कालों में संसारी जीव के लिए सम्यक्त्व के समान कोई कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान कोई अकल्याणकारी नहीं है।

प्रस्तुत ग्रंथ "**धर्मामृत**" यथानाम तथा गुण का धारक है। **प0 पू0 आ0 भगवन् श्री नयसेन स्वामी जी** द्वारा रचित इस ग्रंथ में सम्यग्दर्शन व उसके आठ अंग तथा हिंसादि पाँच पाप व अहिंसादि पाँच अणुव्रतों में प्रसिद्ध पुरुषों की कथाओं का संग्रह है। "**दृष्टान्तेन स्फुटिता मतिः**" दृष्टान्त से पुरुषों की मति/बुद्धि स्फुटित या वृद्धिंगत होती है कथा के माध्यम से तत्त्व का अवबोध सुगमता से हो जाता है।

प्रथम कथा—सच्चे देव, शास्त्र, गुरु व जिनधर्म पर दृढ़ आस्था रखना सम्यक् दर्शन है, इस कथा में प्रारम्भ में सम्यक्त्व के स्वरूप का विस्तार से कथन है। सम्यक्त्व के सम्बन्ध में लोभी वसुमित्र विप्र का कथानक हृदयग्राह्य है। जिन महानुभावों की जैन दर्शन के प्रति श्रद्धा शिथिल है, उन महानुभावों के सम्यक्त्व को दृढ़ करने के लिए यह कथा अत्यंत उपयोगी है। वह मिथ्यादृष्टि वसुभूति धन के लोभ में आकर आठ दिन/ अष्टान्हिका पर्व में मुनि बनता है, बाद में धर्मोपदेश से सम्यक्त्व प्राप्त करके अंत में मुनि दीक्षा लेकर अपनी आत्मा का कल्याण करता है।

द्वितीय कथा—सच्चे देव, शास्त्र, गुरु, प्रयोजनभूत तत्त्व एवं जिनधर्म में शंका नहीं करना निशंकित अंग है। इस निशंकित अंग में प्रसिद्ध अंजन चोर (राजकुमार ललितांग) हुआ। राजकुमार ललितांग कुसंगति में पड़कर नाना प्रकार के व्यसनों में आसक्त हो चोरी करना प्रारम्भ करता है। राजा द्वारा देश निकाला दिया गया, चोरी में अंजन विद्या के द्वारा अंजन चोर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिनेन्द्रभक्त नामक श्रेष्ठी के वटुक के निमित्त से सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। "आणं ताणं कछु न जाणं, सेठ वचन परमाणं" मात्र की जाप से आकाश गमिनी विद्या सिद्ध कर लेता है। अंत में मुनि दीक्षा ग्रहण कर, दुर्द्धर तपस्या करके सर्व कर्मों से रहित हो कैलाश पर्वत से मोक्ष प्राप्त करता है। यह कथा अत्यंत रोचक है।

तृतीय कथा—सम्यक्त्व/सम्यक्दर्शन के द्वितीय अंग का स्वरूप एवं उसमें प्रसिद्ध अनंतसती की कथा इसमें वर्णित है। धर्म साधना करते हुए सांसारिक सुख,

भोगोपभोग की आकांक्षा नहीं करना ही निकांक्षित अंग है। अनन्तमती ने अपने जीवन में नाना प्रकार के संघर्षों का सामना समता से किया था, किन्तु अपने शील व्रत से च्युत नहीं हुई। संसार को लुभाने वाले सुमधुर भासित विषय भी अनंतमती को नहीं लुभा पाये। वह अपने व्रत में दृढ़ रही अनंतर आर्यिका दीक्षा लेकर, समाधि मरण कर स्वर्ग में देव हुई।

चतुर्थ कथा—धर्मात्मा पुरुषों के मलिन शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करना तथा धर्मात्मा जनों के गुणों में अनुराग करना निर्विचिकित्सा अंग है। इस अंग के पालन में उद्दायन राजा प्रसिद्ध हुआ। राजा उद्दायन ने मुनि भेषधारी देव की अत्यंत भक्ति से सेवा की। जिन निर्मल परिणामों से राजा उद्दायन व रानी प्रभावती ने अपने धर्म की परीक्षा दी वह सम्यग्दृष्टियों के लिए आदर्शरूप में प्रस्तुत है। काश! आज भी सभी धर्मात्मा प्राणी अपने कर्तव्य का इसी तरह पालन करें तो धर्म और यथार्थ धर्मात्माओं की दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि हो जायेगी। जिससे प्राणी संसार के दुःखों से मुक्ति को प्राप्त कर लेंगे। राजा उद्दायन भी जिन दीक्षा से निर्वाण को प्राप्त हुए।

पाचवी कथा—समीचीन एवं मिथ्या देव, शास्त्र, गुरु व धर्म का स्वरूप जानकर समीचीन को ग्रहण करना व मिथ्या अवस्था को छोड़ना। तत्त्व व कुतत्त्व की पहचान कर प्रयोजन भूत तत्त्वों की श्रद्धा करना अमूढ़दृष्टि अंग है। इस अंग में रेवती रानी प्रसिद्ध हुई। राजा वरुण की रानी रेवती की व भव्य सेन मुनि की विद्याधर क्षुल्लक जी ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं तीर्थंकर का समवशरण रचकर परीक्षा ली, किन्तु रेवती रानी अपने सम्यक्त्व में दृढ़ रही तथा भव्यसेन मुनि सम्यक्त्व हीन सिद्ध हुए। इसका अत्यंत रोचक ढंग से इस कथा में विवेचन किया गया है।

षष्ठम् कथा—मोक्ष मार्ग अनादि काल से परिशुद्ध है, इस मार्ग पर गमन करके अनन्तानन्त आत्माओं ने मोक्ष प्राप्त किया है। आज भी विदेह क्षेत्र से अनेकों महापुरुष मोक्ष प्राप्त कर रहे हैं, भविष्य में भी अनन्तानन्त आत्माएँ इसी मार्ग से मोक्ष प्राप्त करेंगी। इस मार्ग की बाल, वृद्ध, असक्त एवं रोगी साधर्मी या मुनि से/के माध्यम से निंदा होती हो तो इसे ढंक देना ही उपगूहन अंग है। जिनेन्द्र भक्त सेठ ने किस प्रकार अपने बुद्धि चातुर्य से जैन धर्म की रक्षा की, यह वर्तमान में धर्मात्माजनों के लिए परम उपादेय है। काश! आज भी धर्माभिलाषी महानुभाव; जैन धर्म की रक्षा में इस प्रकार त्याग कर सकें तथा वर्तमान में बढ़ते हुए शिथिलाचार को दूर किया जा सके। छद्म भेषी क्वचित् धार्मिक पुरुष यदि यथार्थ धर्मात्मा बन जायें, अपनी असद्वृत्तियों को छोड़ दें तो जिनधर्म की अभूतपूर्व प्रभावना हो सकती है जिससे प्राणी मात्र जैन धर्म की शरण पाकर अपना कल्याण कर सकता है।

सप्तम कथा–सम्यक् दर्शन व सम्यक्चारित्र से चलायमान किसी भी साधर्मी को उसी में स्थिर कर देना स्थितिकरण अंग है। स्थितिकरण अंग का पालन वही कर सकता है ; जो स्वयं स्थिर हो, जो स्वयं डूब रहा है वह अन्य दूसरे डूबते को नहीं बचा सकता अतः एवं पहले स्वयं का बाद में पर का भी स्थितिकरण करना चाहिए। वारिषेण मुनिराज ने जिस आत्मीय भाव से मुनिराज पुष्पडाल का स्थितिकरण किया वह अनुपमेय है।

आज स्थितिकरण अंग के उपदेश बहुत हो रहे हैं, किन्तु व्यावहारिक जीवन में स्थितिकरण अंग क्षीणता को प्राप्त हो रहा है। काश! पुष्पडाल की तरह धर्म से विचलित महानुभाव पुनः स्थिरता को प्राप्त हों तो जिन धर्म आज भी अपना प्रकृष्ट प्रभाव समग्र विश्व में प्रसारित करने में समर्थ है एवं मिथ्यामतों के बढ़ते अंधकार व आक्षेपों को दूर कर सकता है।

अष्टम कथा–साधर्मी बन्धुओं से निस्वार्थ भाव से, निश्छलता से, गुणों में प्रीति रखते हुए प्रेम रखना वात्सल्य भाव है वात्सल्य भाव संसार का विच्छेदक है, धर्म प्रभावना का आधार है एवं गुण प्राप्ति का अनुपम साधन हैं। मुनि श्री विष्णु कुमार जी ने जिस वात्सल्य भाव से अकंपनाचार्य आदि 700 मुनियों का उपसर्ग दूर किया वह वात्सल्य भाव प्राणी मात्र के लिए आदर्श रूप है। बलि प्रहलादि, नमुचि, बृहस्पति द्वारा श्रुत सागर जी मुनिराज पर उपसर्ग एवं रक्षा ह्रास निवारण स्वमत पोषण की अभिलाषा से दिगम्बर संतों का अपमान करने वाले व आचार्य अकंपनादि 700 मुनियों पर घोर उपसर्ग करने वाले आदि की दुर्दशा का कथन आदि इस कथा के मुख्य अंग हैं विष्णु कुमार जी का संतानुराग व धर्मानुराग अनुपमेय ही कहा जायेगा। जिससे विष्णु कुमार जी मोक्ष को प्राप्त हुए।

नवमी कथा–संसार में व्याप्त अज्ञान, मिथ्यात्व व असंयम के अंधकार को जिन पूजा व पात्र दान के माहात्मय से अथवा ज्ञान, ध्यान, तपोराधना से दूर करना एवं जिनधर्म की प्रभावना करना। अर्थात् प्राणी मात्र को सत्य धर्म के प्रति समर्पित करना ही प्रभावना अंग है। वज्र कुमार मुनिराज ने आकाश मार्ग से जिन रथ का प्रवर्तन कर ओहिली देवी को संतुष्ट किया एवं जिनधर्म की अपूर्व प्रभावना की, जिससे अनेक भव्य जीव सम्यक्त्व व संयम को ग्रहण कर आत्म कल्याण को प्राप्त हुए। काश! आज भी निस्वार्थ धर्म प्रभावी महानुभाव वृद्धि को प्राप्त हों तो स्वतः ही धर्म प्रभावना होगी। वर्तमान काल में अधिकांश महानुभाव नाम व सम्मान की आकांक्षा से ही धर्म का कार्य करते हैं, आत्म कल्याण की भावना से नहीं। यदि प्रत्येक प्राणी पर कल्याण की भावना से जिन धर्म की प्रभावना करें तो वे नियम से अल्पकाल में ही सिद्धत्व/परमात्मावस्था को प्राप्त कर लें।

दशवी कथा–इस कथा में पंचाणुव्रतों में प्रधान अहिंसाणु व्रत का स्वरूपाख्यान है तथा अहिंसाणु व्रती धनकीर्ति श्रेष्ठी की कथा है। मृगसेन धीवर ने अहिंसा धर्म का पालन किया, मृगसेन ने एक मछली की चार बार रक्षा की, जिससे वह (धनकीर्ति) भी चार बार मौत से बचा। तदुपरान्त धनकीर्ति नगर श्रेष्ठी बने। राज्यवत् वैभव को भोग कर अंत में जिनदीक्षा ली और समाधि मरण का स्वर्गावस्था को प्राप्त किया।

ग्यारहवी कथा–इस कथा में सत्याणु व्रत के स्वरूप का कथन किया गया है। इस व्रत का पालन करने में "धनद" नामक राजा प्रसिद्ध हुआ। वह राजा लौकिक सत्याभास में अनुरक्त न होकर सत्य के प्रति समर्पित रहा। बौद्ध साधु संघश्री ने चारण मुनिराज के बारे में अपलाप किया जिसका दुष्परिणाम भी उसने भोगा। राजा धनद ने अपने इन्द्र नामक पुत्र को राज्य देकर जिन दीक्षा ली। दुर्द्धर तप करके तड़ियर नामक पर्वत से सर्वकर्म क्षय कर मुक्ति प्राप्ति की तथा मिथ्याभाषी संघश्री नरक में गया था।

बारहवीं कथा–इस कथा के प्रारम्भ में अचौर्याणुव्रत का स्वरूप प्रतिपादित है, तदनन्तर उस व्रत से सम्बन्धित जिनदत्त श्रेष्ठी व जिनदासी सेठानी की कथा है। जिनदत्त श्रेष्ठी ने जिनपालित मुनि की अत्यंत भक्ति-भाव से सेवा की। इसमें मुख्य कथा के साथ-साथ अन्य कथाओं का भी समावेश है। जिनदत्त के पुत्र जिनदास ने (अपने द्वारा चुराये अपने पिता के धन को) धन लेकर पिता को दे दिया और जिनदास ने उस समय अचौर्याणुव्रतादि श्रावक के व्रतों को ग्रहण किया। कुछ समयोपरान्त मुनि दीक्षा को ग्रहण कर दुर्द्धर साधना समाधिमरण करके सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त किया। यह कथा अत्यंत रोचक एवं बोधप्रद है। इसके श्रवण-पठन-पाठन से धर्म के प्रति श्रद्धा दृढ़ होती है।

तेरहवीं कथा–इस कथा के प्रारम्भ में ब्रह्मचर्य व्रत का स्वरूप एवं महिमा का कथन है। ब्रह्मचर्य व्रत राग-द्वेष की परिणति से मुक्त करने का हेतु है। ब्रह्मचर्य व्रत सम्पूर्ण व्रतों का दादा है, इस व्रत का निर्वाह करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुगम/असमव नहीं है। जिन भव्य जीवों का संसार अल्प रह गया है वे ही जीव ब्रह्मचर्य व्रत का निर्दोष पालन कर सकते हैं इस व्रत में नीली बाई, विजय-विजया, सीता, द्रोपदी, जयकुमार, सुलोचना, मनोरमा, पद्मावती व सुदर्शनादि प्रसिद्ध हुए। यहाँ पर प्रमाति कुमार व चन्द्रलेखा की पावन कथा वर्णित है।

चौदहवीं कथा–इस कथा के प्रारम्भ में परिग्रह पाप व अपरिग्रह व्रत का स्वरूप बताया गया है। परिग्रह समस्त पापों का मूल है, परिग्रही व्यक्ति नियम से हिंसक है, मिथ्याभाषी है, चोर है, कुशील सेवी या ब्रह्मचर्य से च्युत है। परिग्रह में आनंद मानना विषय संरक्षणानन्दी रौद्र ध्यान है जो कि नरकादि दुर्गतियों का कारण

है बहुत आरम्भ करने वाला व बहुत परिग्रह रखने वाला नरकायु का बंधक होता है। अपरिग्रही व्यक्ति मोक्षमार्गी है, यथार्थ साधु है। अपरिग्रही पुरुष के अहिंसादि सब व्रत सार्थक है। परिग्रह में आसक्त अपरिचर राजा की कथा अत्यन्त रोचक है तथा अनन्त वीर्य मुनिराज का मंगलकारी धर्मोपदेश है। अपरिग्रह महाव्रत का आदर्श रूप से पालन करने वाले गुरुदत्त व श्रीदत्त की कथायें भी अपरिग्रह की प्रेरणा देने वाली हृदयग्राही है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में सहयोगी ऐ. श्री विमुक्त सागर जी, क्षु. श्री विशंक सागर जी को सुसमाधिरस्तु आशीर्वाद, संघस्थ सभी त्यागी व्रतीयों को आशीर्वाद अनिल कुमार जैन चन्द्रा कॉपी हाउस एवं अपने न्यायोपार्जित धन का सदुपयोग करने वाले देव शास्त्र गुरु की परम भक्त सुमन जैन, ग्रीन पार्क, दिल्ली सपरिवार को धर्म वृद्धि आशीर्वाद।

प्रस्तुत ग्रंथ **"धर्मामृत"** के सम्पादन एवं संशोधन कार्य में मुझ छद्मस्थ द्वारा यत्किंचित जो त्रुटि रह गयी हों तो विज्ञ पुरुष/सकल संयमी महानुभाव उन्हें संशोधन कर हमें संकेत देने का अनुग्रह करें। सुधी पाठकगण धर्मात्मा, महानुभाव हंसवत् गुणग्राही दृष्टि बनाकर उक्त शास्त्र का आद्योपांत स्वाध्याय करेंगे ऐसा हमारा विश्वास है। इसके विपरीत व्यक्ति छिद्रान्वेशी दुर्जन जौंकवत् इसे पढ़ेंगे किन्तु उनके लिए भी आर्शीवाद है। उन्हें सद्बुद्धि प्राप्त हो। तथा वे समीचीन मार्ग को प्राप्त कर आत्म कल्याण करने में समर्थ हो। क्षमा भावना के साथ।

इत्यलम्।

श्री शुभमिती आषाढ़-वदी-तृतीया-वीरवार
महावीर नि0 सं0 2528

जिनचरणानुचर : संयमानुरक्तः
कश्चिदल्पज्ञ श्रमणः
27/06/2002 – गुरुवार
गाजियाबाद (उ0 प्र0)

धर्मामृत—भाग 1

श्री वीतरागाय नमः

—: धर्मामृत-हिन्दी भाषान्तर :—

भाषान्तरकार का मंगलाचरण

महावीरवक्त्रारविन्दध्वनेश्च, ययोः पादपद्मात् सुसद्वृत्तिलाभः।
ममाभूत्तयोः शान्तिसिन्धुं नमामि, नमामि प्रभुं पायसिन्धुं किलाद्य॥1॥
शान्तान्तरात्मसमुदञ्चित साधुवृत्तिः शाश्वत्तपः परमसंयमसत्प्रवृत्तिः।
शब्दप्रयोगसमलङ्कृतवाग्विभूतिः, शं सन्तनोतु जगतो जयपूर्वकीर्तिः॥2॥
निःशेषशास्त्रपरिशीलनलब्धबोधम्, राजाधिराजपरिपूजितपादपद्मम्।
आचार्यवर्यजयकीर्तिगुरुं प्रणम्य, धर्मामृतस्य सरलां वितनोमि भाषाम्॥3॥
आचार्यवर्यमथसन्नयसेनमर्च्यम्, विद्यातपोविगतकल्मषसूर्यभासम्।
लोकान् सदा सदुपदेशकृतार्थयन्तम्, ज्ञानस्वरूपममलं मुनिमानतोऽस्मि॥4॥
स्वस्वल्पबुद्धिविभवोऽपि मुनेः प्रसादात्, तस्योपदेशवचनस्य महतरस्य।
श्रीदेशभूषणमुनिर्जनबोधनाय, हिन्दीनिबन्धमभिमञ्जुलमातनोमि॥5॥

महावीर स्वामी को नमस्कार

जिन वीर प्रभु ने अन्तरंग केवल ज्ञानादि और बहिरंग समवशरणादि लक्ष्मी को प्राप्त कर लिया है तथा जिनके चरण कमलों में इन्द्र प्रतीन्द्र, प्रभृति देव सतत् नमस्कार करते हैं; जिससे उनके मुकुटों में लगी हुई मणियों में प्रभु के चरण कमल प्रतिबिम्बित होते हैं और जो भव्यजीवों के लिये कल्पवृक्ष के समान सुखदायक हैं; उन वीर प्रभु को मैं मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ।

विवेचन—आस्तिक परम्परा में किसी भी कार्य के प्रारम्भ में इष्टदेव को नमस्काररूप मंगलाचरण करना शिष्टता का द्योतक माना गया है। न्याय शास्त्र में निर्विघ्न कार्य समाप्ति, शिष्टाचार-परिपालन, शिष्य परीक्षा, नास्तिकता का परिहार और कृतज्ञता ज्ञापन ये पांच हेतु मंगल-स्तवन करने के कारण बताये हैं। जैन परम्परा में प्रधानरूप से आत्मशुद्धि के लिये ही मंगल-स्तवन करने की परिपाटी है। प्रस्तुत ग्रन्थकर्त्ता नयसेनाचार्य ने अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी के चरण कमलों को नमस्कार किया है। वह किसी लौकिक या परलौकिक कामना को भगवान् से पूरा नहीं कराना नहीं चाहते हैं, क्योंकि वीर प्रभु सृष्टि के कर्त्ता नहीं हैं। आचार्य का अभिप्राय मंगल-स्तवन का यह है कि अनादिकाल से चली आयी कर्मपरम्परा को वीर प्रभु के आदर्श द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है, अतः वीर प्रभु ही मंगलरूप हैं। वही सच्चे देव हैं, अरिहन्त हैं, कर्म कलंक से रहित हैं; उन्हीं के प्रतिपादित आदर्श मार्ग पर चलने से मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति हो सकती है।

सच्चे देव में सर्वज्ञता, वीतरागता और हितोपदेशिता इन तीन गुणों का होना परमावश्यक है। आकाश में चलने, छत्र-चमर आदि नाना प्रकार की विभूतियों के होने, आश्चर्य में डालनेवाली नाना प्रकार की शारीरिक चेष्टाओं के होने, दूसरों की लौकिक कामननाओं को पूर्ण करने, देवों द्वारा उत्सव मनाये जाने, संसार को बनाने या बिगाड़ने वाला होने एवं चमत्कारी बातों को उत्पन्न करने से कोई सच्चा

देव नहीं हो सकता है। सच्चे देव में पहले गुण सर्वज्ञत्व का होना आवश्यक है अर्थात् जो संसार के समस्त पदार्थों को प्रत्यक्षरूप से जान सके; क्योंकि ज्ञान का स्वभाव पदार्थों को जानना है, जब तक इस ज्ञान पर पर्दा पड़ा रहता है, तब तक उसके जानने रूप स्वभाव का तिरोभाव या हीनाधिकता होती है। जब ज्ञान को आवृत्त—ढकनेवाले ज्ञानावरणीय कर्म का अभाव हो जाता है तो आत्मा का पूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाता है, जिससे सच्चा देव संसार के समस्त पदार्थों को जान व देख सकता है।

वीतरागता—क्षुधा, तृषा, भय, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा, रोग, मरण, पसीना, खेद, अभिमान, रति, आश्चर्य, जन्म, नींद और शोक इन अठारह दोषों से रहित होना है। संसारी प्राणी अनादि काल से क्रोधादि कषाय, अज्ञान एवं विषय वासनाओं के वशीभूत हैं, जिससे वे जन्म, मरण, बुढ़ापा आदि के दुःखों को भोग रहे हैं। साधारणतः उपर्युक्त अठारह दोष प्रत्येक संसारी प्राणी में विद्यमान हैं, जो इन दोषों के वशीभूत है वह सच्चा देव नहीं हो सकता।

असाता वेदनीय कर्म के तीव्र या मन्द उदय से होने वाली क्षुधा, तृषा की बाधा, जो समस्त संसारी जीवों में पायी जाती है तथा इस बाधा को दूर करने के लिये खाद्य पदार्थों को एकत्रित करने की इच्छा होती है, यह इच्छा मोहनीय कर्म जन्य है। सच्चे देव ने इन दोनों कर्मों को ध्यानाग्नि में जला दिया है।

वीर्यान्तराय कर्म का उदय क्षुधा, तृषा जनित कष्टों को सहन करने की शक्ति का अभाव करता है, संसारी जीवों में इस कर्म के उदय के कारण ही सहनशील शक्ति का अभाव पाया जाता है। सच्चे देव ने वीर्यान्तराय कर्म को नाश कर दिया है, जिससे उनमें अनन्त शक्ति आ गयी है। मोहनीय कर्म का क्षय होने से राग, द्वेष, भय आदि का अभाव हो जता है। राग[1] दो प्रकार का होता है—प्रशस्त और अप्रशस्त। दान, शील, पूजा, परोपकार आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करना शुभ-प्रशस्त राग है। विकथा[2]—स्त्रीकथा, राष्ट्रकथा, भोजन कथा, चौरकथा करना, हिंसा आदि विकार उत्पन्न करने वाले कार्यों में प्रवृत्ति करना अशुभ राग है। इह लोक भय,

परलोक भय, अरक्षा, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक ये सात प्रकार के भय; जो मोहनीय कर्म से उत्पन्न होते हैं तथा अन्तरंग—कषायादि और बहिरंग—धन, धान्यादि परिग्रह; क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय इन सबका मोहनीय कर्म के क्षय होने से अभाव हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि सच्चे देव में ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से अनन्त ज्ञान—पूर्ण ज्ञान, दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से अनन्तदर्शन—पूर्ण दर्शन, मोहनीय कर्म के क्षय से राग, द्वेष, जन्म, मरण, बुढ़ापा, भय, आश्चर्य, अभिमान, हर्ष, विषाद आदि दोषों का अभाव, असातावेदनीय के क्षय से क्षुधा, तृषा का अभाव एवं अंतराय के क्षय से अनन्तबल की प्राप्ति होती है। अत: अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इस अनन्त चतुष्टय का सद्भाव सच्चे देव में रहता है।

पूर्ण ज्ञानी और वीतरागी होने से सच्चे देव में हितोपदेशिता पायी जाती है; क्योंकि जो रागी, द्वेषी होता है, जिसकी बुद्धि में पक्षपात रहता है वह यथार्थ उपदेशक नहीं हो सकता। सच्चा देव न किसी की स्तुति, प्रार्थना, पूजा आदि से प्रसन्न होता है और न किसी की निन्दा से नाराज; किन्तु इन कार्यों से स्वयं जीव अपनी शुभाशुभ प्रवृत्ति के कारण कर्म बन्ध करता है। सच्चा देव सृष्टि का कर्त्ता नहीं है, यह संसार के पदार्थों को उत्पन्न कर रागी, द्वेषी नहीं होता; क्योंकि सृष्टि उत्पन्न करना राग द्वेष का कारण है। यह संसार तो अनादिकाल से स्वत: निर्मित हुआ चला आ रहा है, केवल वस्तुओं की पर्याय ही बदला करती है। द्रव्य की दृष्टि से यह संसार नित्य है, इसमें न कोई नवीन पदार्थ उत्पन्न होता है और न किसी का विनाश ॥1॥

सिद्ध परमेष्ठी का संस्मरण

जिस सिद्ध परमेष्ठी ने अष्टकर्मों को नाश कर अविनाशी अष्ट गुणों को प्राप्त कर लिया है और लोकाग्र-सिद्ध शिला पर विराजमान हैं तथा जो सदा अच्युत-संसार के जन्म, मरणादि दु:खों से सर्वदा के लिये रहित हो गये हैं और जो अक्षय

शक्ति के धारी हैं, जिससे वे कभी भी किसी के द्वारा पराजित नहीं हो सकते हैं। अमूर्त्त-निराकार, ज्ञान, दर्शन, सुख, सूक्ष्मत्व आदि समस्त गुणों से सहित, नित्य अबाधित सुख को प्राप्त होने वाले, निर्मल उच्च गुणों के धारी सिद्ध परमेष्ठी मेरे ऊपर दया करें ॥2 ॥

विवेचन—आत्मा में सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व ये आठ गुण होते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये कर्म इन आठ गुणों के बाधक हैं—आत्मा पर इन कर्मों का पर्दा पड़ जाने से ये गुण आच्छादित हो जाते हैं; किन्तु जब आत्मा अपने पुरुषार्थ से इन कर्मों को क्षय कर देता है, उपर्युक्त आठ गुणों का आविर्भाव हो जाता है। अभिप्राय यह है कि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय होने से ज्ञान, दर्शनावरणीय के क्षय से दर्शन, वेदनीय के क्षय से अव्याबाधत्व, मोहनीय के क्षय से सम्यक्त्व (सुख) आयु के क्षय से अवगाहनत्व, नाम कर्म के क्षय से सूक्ष्मत्व, गोत्र के क्षय से अगुरुलघुत्व और अन्तराय के क्षय से वीर्य गुण की प्राप्ति होती है[2]।

सिद्ध भगवान लोकाग्रवासी—सिद्धशिला पर निवास करने वाले हैं, यह विशेषण आचार्य ने इसलिये दिया है कि कुछ दार्शनिक, 'जीव जिस स्थान से मुक्त होता है वहीं रहता है' ऐसा मानते हैं; इसका निषेध करने के लिये दिया है। पूर्व प्रयोग से, असंग होने से, बन्ध का नाश होने से तथा गति के परिणमन से इन चार कारणों से जीव का ऊर्ध्व गमन होता है अथवा घूमते हुए कुम्हार के चक्र के समान, मृत्तिका के लेप रहित तुंबी के समान, एरण्ड बीज के समान या अग्नि की लौ के समान जीव का स्वभाव ऊर्ध्व गमन वाला है। यह जीव ऊर्ध्व गमन में लोक के अग्रभाग तक ही जाता है, इससे आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से गमन नहीं होता; अतः सिद्ध लोकाग्र निवासी हैं।

सिद्ध अच्युत गुणवाले हैं—अपने स्वभाव में ही स्थित हैं, अपने ज्ञान, दर्शन आदि गुणों से कभी च्युत नहीं होते अथवा 'वत्थु स्वभावो धम्मो'—आत्मा के शुद्ध स्वभाव चिदानन्द रूप धर्म से च्युत—पृथक् नहीं होते हैं। कर्मों को नष्ट कर अपने

शुद्ध चिदानन्द रूप को प्राप्त किया है, उसी में स्थिर हैं, उससे इधर उधर होने का कोई कारण नहीं रहा है, अतः अच्युत हैं।

अक्षय गुणों के धारी सिद्ध परमेष्ठी हैं तथा इनके गुण कभी हीनाधिक नहीं होते हैं, इसलिये अक्षय हैं। कर्मों का अभाव होने से जन्म, जरा, मरण आदि से रहित हैं, सर्वदा अपने स्वरूप में स्थिर रहने वाले हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होने पर भी सदा शिव हैं, नित्य हैं, संसार में लौटकर नहीं आने वाले हैं, अविनाशी गुणों के धारी हैं, अतः अक्षय हैं।

अजित—काम, क्रोध, लोभ, मोहादि द्वारा अजित है, क्योंकि उनकी विभाव परिणति दूर हो गयी है, जिससे वे कर्म संस्कार से रहित हो सदा अजित हैं। अन्तरंग-मोहरूपी शत्रु और बहिरंग मानवादि से अजेय हैं।

परिणमन क्रिया की विशेषता के कारण आत्मा में स्वाभाविकी और वैभाविकी दो प्रकार की शक्तियाँ हैं। जब तक यह जीव संसार में रहता है, वैभाविकी शक्ति का विभाव-स्वभाव से विरुद्ध परिणमन होता है, किन्तु जब संसार छूट जाता है, कर्मों का ध्वंश हो जाता है तो यही वैभाविकी शक्ति स्वभाव-रूप में परिणत हो जाती है और जीव सदा के लिये अजेय बन जाता है। आचार्य ने इसी भाव को दिखलाने के लिये अजित विशेषण दिया है।

अमूर्त—घातिया और अघातिया कर्म कलंक से रहित होने के कारण सिद्ध परमेष्ठी शरीर रहित अमूर्तिक हैं। काम, क्रोधादि विकारों के नहीं रहने से तथा आयु, नाम, गोत्र और सातावेदनीय के अभाव हो जाने से सिद्ध परमेष्ठी के परमौदारिक-पुण्यमय स्थूल शरीर का भी अभाव हो जाता है, इन्हें अमूर्त कहा गया है। तात्पर्य यह है कि सिद्ध परमेष्ठी इंद्रिय गोचर नहीं हैं, यह तो आत्मा का शुद्धरूप है, जो अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। गोम्मटसार में कहा है—

अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥

अर्थात्—ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से रहित, शान्तिमय-अनन्त सुखरूपी अमृत का पान करने वाले, निरंजन-नवीन कर्म बन्ध के कारणीभूत भावकर्म रूपी मिथ्यादर्शनादि अंजन से रहित, नित्य, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य अव्याबाधत्व अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व और अगुरुलघुत्व इन आठ गुणों के धारी कृतकृत्य—जिनको कोई भी कार्य करने को शेष नहीं रहा है, ऐसे लोक के अग्रभाग में निवास करने वाले सिद्ध परमेष्ठी होते हैं। तात्पर्य यह है कि जिन्होंने घातिया और अघातिया कर्मों को नष्ट कर दिया है, लोकाकाश और अलोकाकाश को जानने-देखने वाले हैं, मुक्त हुए शरीर से किञ्चित् न्यून आकार वाले हैं, ऐसे लोकाग्र में स्थित आत्मा सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।

जैनागम में आत्मा के तीन भेद बताये हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो आत्मा इन्द्रिय सुख में आसक्त है और जो शरीर को ही आत्मा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। अथवा सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित धर्म में जिसका श्रद्धान नहीं है, वह बहिरात्मा है। अन्तरात्मा तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य।

उत्तम अन्तरात्मा परम समाधि में लीन महाव्रतों के धारी मुनिराज होते हैं, मध्य अन्तरात्मा अनगार व देशव्रतों को धारण करने वाले नैष्ठिक श्रावक और जघन्य अन्तरात्मा अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक होते हैं। परमात्मा[4] के दो भेद हैं—सकल और निकल।

सकल परमात्मा घातिया कर्मों को नाश करने वाले केवलज्ञान के धारी अर्हन्त भगवान् हैं और निकल परमात्मा घातिया, अघातिया दोनों प्रकार के कर्मों से रहित, अशरीरी, अष्ट गुणों के धारी, लोकाग्र निवासी सिद्ध भगवान् होते हैं। जैन परम्परा में शुद्ध, निष्कलंक, चिदानन्द स्वरूप में अवस्थित आत्मा ही परमात्मा है, इसमें जीवात्मा से भिन्न कोई परमात्मा नहीं माना गया है, अतः शक्ति की अपेक्षा से सभी भव्य आत्मायें परमात्मा हैं ॥2 ॥

छत्तीस गुणों से विभूषित, श्रेष्ठ पंचाचार को पालने वाले पूर्ण अहिंसा के धारी

सज्जन पुरुषों द्वारा वन्दनीय श्री आचार्य परमेष्ठी मुझे कर्म बन्धन तोड़ने में शक्ति प्रदान करें ॥3 ॥

विवेचन—द्वादश तप, दस धर्म, पांच आचार, छः आवश्यक एवं तीन गुप्तियों का विधिवत् पालन करने वाले आचार्य होते हैं। द्वादश तपों का वर्णन करते हुए बताया गया है—.

अनशन—फल की अपेक्षा न कर संयम वृद्धि के लिये जो उपवास किया जाता है, वह अनशन तप है।

अवमौदर्य—संयम में सावधान रहने के लिये एवं वात, पित्त, श्लेम आदि दोषों के शमन के लिये कम भोजन करना अवमौदर्य है।

वृत्ति परिसंख्यान—भोजन की प्रवृत्ति में मर्यादा करना-भोजन को जाते समय एक घर, गली आदि में भोजन करने का नियम करना वृत्ति-परिसंख्यान है।

रसत्याग—इन्द्रिय, निग्रह, स्वाध्याय सिद्धि एवं विकारों को जीतने के लिये घृतादि रसों का त्याग करना रसत्याग तप है।

विविक्तशय्यासन—ब्रह्मचर्य व्रत की सिद्धि एवं स्वाध्याय और ध्यान की प्राप्ति के लिये एकान्त स्थान—गुफा आदि में सोना, उठना, बैठना आदि विविक्तशय्यासन तप है।

कायक्लेश—शरीर को सहनशील बनाने के लिये शारीरिक कष्ट स्वेच्छा से सहना कायक्लेश तप है।

प्रायश्चित्त—प्रमाद या अज्ञान से लगे हुए दोषों की शुद्धि करना प्रायश्चित्त है। "प्राय" शब्द का अर्थ है दोष और "चित्त" का अर्थ है शुद्धि अर्थात् लगे हुए दोषों की शुद्धि करना प्रायश्चित्त है।

विनय—बड़े मुनियों तथा पूज्य पुरुषों का आदर करना विनय है।

वैयावृत्य—रोगी मुनियों की सेवा करना वैयावृत्य है।

स्वाध्याय—ज्ञान की भावना में आलस नहीं करना स्वाध्याय है।

व्युत्सर्ग—अन्तरंग और बाह्य परिग्रह का त्याग कर देना व्युत्सर्ग है।

ध्यान—मनकी चंचलता को वश करना तथा उसे एक ओर लगाना ध्यान है। आचार्य संघ की धार्मिक वृत्तियों का शासन करते हुए इन तपों द्वारा अपने मन की प्रवृत्ति और इच्छाओं का दमन करते हैं। आचार्य द्वादश तपों के साथ दस धर्मों का पालन भी करते हैं तथा पूर्णरूप से अहिंसा की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं—

उत्तम क्षमा—दुष्ट पुरुषों द्वारा गाली देने या वध, बन्धन के होने पर भी क्रोध न करना। जैन मुनि उत्तम क्षमा की प्रतिमूर्ति होते हैं, अपकारी, शत्रु और सर्व प्रकार से अहित करने वालों की भी भलाई करते हैं। किसी के मान, सम्मान या अपमान से उनके मन में तनिक भी कलुषता नहीं आती है।

उत्तम मार्दव—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठ वस्तुओं के मद का त्याग करना तथा दूसरों द्वारा तिरस्कार होने पर भी अभिमान न करना उत्तम मार्दव है।

उत्तम आर्जव—मन, वचन, काय से छल-कपट का त्याग करना।

उत्तम सत्य—कल्याणकारी यथार्थ वचन बोलना।

उत्तम शौच—लोभ या गृद्धता का त्याग करना।

उत्तम संयम—छः कायों के जीवों की हिंसा का त्याग करना एवं पंचेन्द्रियों के विषयों का त्याग करना।

उत्तम तप—अर्जित कर्मों के क्षय के लिए बारह प्रकार के तपों को करना।

उत्तम त्याग—ज्ञानादि का दान देना।

उत्तम आकिञ्चन्य—पर पदार्थों में, यहाँ तक कि अपने शरीर से भी मोह का त्याग कर देना।

उत्तम ब्रह्मचर्य—विकारों को जीत कर आत्मशक्ति का विकास करना।

दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पांच आचारों को; राग-द्वेष को वश करने के लिए सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छः आवश्यकों को एवं मन, वचन और काय की राग-द्वेष रूप प्रवृत्ति को त्यागने के लिए मन, वचन और काय को वश करना ये आचार्य के 36 मूल गुण बताये गये हैं। आचार्य परमेष्ठी विकारों, कषायों और इच्छाओं को पूर्णतया जीतने के लिये 36 प्रकार के मूल गुणों का पालन करते हैं ॥3॥

अपने हित-मित उपदेशामृत द्वारा भव्य शिष्यों के मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले, द्वादशांग श्रुत के पारगामी और भव्यजनों से वन्दनीय श्री उपाध्याय परमेष्ठी मेरे आभ्यन्तर में संलग्न कर्ममल को अपने वचनामृत से निर्मल करें ॥4॥

विवेचन—उपाध्याय परमेष्ठी जो कि ज्ञान-ध्यान में अपना समय व्यतीत करते हैं तथा जिन्होंने अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए महत्तम प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया है, उनका स्तवन कवि ने उपर्युक्त प्रकार से किया है। उपाध्याय परमेष्ठी वे ही मुनिवर कहलाते हैं, जो ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के पाठी होते हैं। ये स्वयं अध्ययन करते हैं तथा पार्श्ववर्ती शिष्यों को अध्यापन कराते हैं। ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों का वर्णन निम्न प्रकार है—

1. आचाराङ्ग—इसमें मुनियों के समस्त आचार का वर्णन रहता है, इन्हें किस प्रकार अपना रहन-सहन रखना चाहिये, जिससे आत्मकल्याण में बाधा न हो, पर प्रकाश डाला जाता है। इसके पदों[1] की संख्या अठारह हजार है।

2. सूत्रकृताङ्ग—इसमें ज्ञान, विनय, छेदोपस्थापना आदि क्रियाओं का वर्णन रहता है; इसके पदों की संख्या छत्तीस हजार है।

3. स्थानाङ्ग—इसमें षट् द्रव्यों के एकादि जितने विकल्प संभव है, उनका विस्तार सहित निरूपण किया जाता है; इसमें ब्यालीस हजार पद हैं।

4. **समवायाङ्ग**—सम्पूर्ण द्रव्यों में किस धर्म की अपेक्षा सादृश्य है इसका वर्णन रहता है, इसके पदों की संख्या चौसठ हजार है।

5. **व्याख्या प्रज्ञप्ति**—जीव है या नहीं, इस प्रकार के साठ हजार प्रश्नों का वर्णन रहता है, इसमें दो लाख अठारह हजार पद हैं।

6. **ज्ञातृकथा**—तीर्थंकर और गणधरों की कथाओं का वर्णन रहता है; इसके पदों की संख्या पांच लाख पचास हजार है।

7. **उपासकाध्ययन**—श्रावकों के आचार का वर्णन रहता है, इसके पदों की संख्या ग्यारह लाख सत्तर हजार है।

8. **अन्तःकृद्दशांग**—प्रत्येक तीर्थंकर के समय में दस-दस ऐसे मुनि होते हैं, जो उपसर्गों को सहन कर मोक्ष प्राप्त करते हैं, इसमें उन्हीं के पुण्य चारित्रों का वर्णन रहता है, इसके पदों की संख्या तेईस लाख अट्ठाईस हजार है।

9. **अनुत्तरौपपादिकदशांग**—प्रत्येक तीर्थंकर के समय में ऐसे दस-दस मुनि होते हैं, जो उपसर्गों को सहन कर अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होते हैं, इस अंग में इन मुनियों की कथाओं का वर्णन विस्तार से रहता है।

10. **प्रश्नव्याकरण**—इनमें प्रश्न के अनुसार नष्ट, मुष्टिगत प्रश्नों का उत्तर रहता है; इसमें तेरानवे लाख सोलह हजार पद हैं।

11. **विपाकसूत्र**—कर्मों के उदय, उदीरणा और सत्ता का वर्णन रहता है, इसके पदों की संख्या एक करोड़ चौरासी लाख है।

12. **दृष्टिवाद पूर्व**—इसके पाँच भेद हैं।

चौदह पूर्वों का विवरण

1. **उत्पादपूर्व**—इसमें वस्तु के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का वर्णन है, इसके पदों की संख्या एक करोड़ है।

2. **अग्रायणीपूर्व**—इसमें अंगों के प्रधानभूत अर्थों का वर्णन है, इसके पदों की संख्या छयानवे लाख है।

3. **वीर्यानुप्रवादपूर्व**—बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि के बल का निरूपण रहता है, इसके पदों की संख्या सत्तर लाख है।

4. **आस्तिनास्ति प्रवादपूर्व**—जीवादि पदार्थों के आस्तित्व और नास्तित्व का वर्णन रहता है, इसमें साठ लाख पद हैं।

5. **ज्ञानप्रवादपूर्व**—इसमें आठ ज्ञान, उनकी उत्पत्ति के कारण और ज्ञान के स्वामियों का कथन रहता है, इसके पदों की संख्या एक कम एक करोड़ है।

6. **सत्यप्रवादपूर्व**—वर्ण, स्थान, दो इंद्रिय आदि प्रणाली और वचन गुप्ति के संस्कार का वर्णन है, इसमें एक करोड़ छः पद हैं।

7. **आत्मप्रवादपूर्व**—आत्मा के स्वरूप का निरूपण रहता है, इसमें छब्बीस करोड़ पद हैं।

8. **कर्मप्रवादपूर्व**—इसमें कर्मों के बन्ध, उदय, उदीरणा, उपशम आदि का कथन है, इसमें एक करोड़ अस्सी लाख पद हैं।

9. **प्रत्याख्यानपूर्व**—द्रव्य और पर्याय के स्वरूप का कथन है, इसमें चौरासी लाख पद हैं।

10. **विद्यानुवाद पूर्व**—इसमें पांच सौ महाविद्याओं, सात सौ क्षुद्रविद्याओं एवं अष्टाङ्ग महानिमित्तों का वर्णन है, इसमें एक करोड़ दस लाख पद हैं।

11. **कल्याणपूर्व**—इसमें बलभद्र, वासुदेव, तीर्थंकर प्रभृति पुण्यात्माओं के पुण्य का कथन रहता है; इसमें छब्बीस करोड़ पद हैं।

12. **प्राणवादपूर्व**—इनमें मंत्र, तंत्र, गरूड़विद्या एवं अष्टाङ्ग वैद्य विद्या का वर्णन है, इसमें तेरह करोड़ पद हैं।

13. **क्रियाविशालपूर्व**—इसमें छन्द, अलंकार और व्याकरण विषय का निरूपण है, इसमें नौ करोड़ पद हैं।

14. **लोकविन्दुसार**—निर्वाण के सुख का वर्णन रहता है, इसमें साढ़े बारह करोड़ पद हैं।

उपाध्याय इन ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों को स्वयं पढ़ते हैं तथा पास में रहने वाले अन्य मुनियों को पढ़ाते हैं। ये प्रत्येक प्रश्न का समाधान करने वाले, वाद-विवाद करने वाले, स्याद्वाद के रहस्य के जानकार, बोलने में प्रवीण, सिद्धान्त शास्त्र के पारगामी, वृत्ति और प्रधान सूत्रों के विद्वान्, शब्द और अर्थ के मर्म के ज्ञाता, श्रेष्ठ व्याख्याता एवं अध्यापन कार्य में विशेष रुचि रखने वाले होते हैं। उपाध्याय पढ़ने-पढ़ाने के सिवा व्रतादि का पालन मुनियों के समान ही करते हैं। उपाध्याय धर्म का उपदेश देते हैं, आचार्यों के समान आदेश नहीं। वैसे तो आचार्य के समान ही वे संयम, तप, शुद्ध चारित्र और पंचाचार-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, वीर्य का पालन करते हैं। मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण और चौरासी लाख उत्तर गुणों को पालना, परीषहों को जीतना एवं उपसर्गों को सहना भी उपाध्याय के लिये आवश्यक है[1] ॥4॥

अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित; भेद विज्ञान द्वारा आत्मा और शरीर को अलग-अलग अनुभव करने वाले दया, श्रेष्ठ चारित्र, शील, सज्जनता, धैर्य आदि गुणों के धारी एवं कर्म शत्रुओं को नाश करने के लिये कटिबद्ध श्री साधु परमेष्ठी मेरे दुर्मोह को नाश करें।॥5॥

विवेचन—जैनागम में साधु को विषय-वासना और आरम्भ परिग्रह से रहित, ज्ञान-ध्यान में लीन रहने वाला बताया गया है। अन्तरंग-क्रोधादि और बहिरंग-धन, धान्यादि परिग्रह, जो कि संसार में सभी प्रकार के पापों के घर हैं, त्याग किये बिना साधु नहीं हो सकता है। साधु को 22 परीषह भी सहन करनी पड़ती हैं तथा उनका निम्न आचार बताया गया है—

पांच महाव्रत, पांच समिति, पञ्चेन्द्रिय-निग्रह, समता, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण स्वाध्याय, कायोत्सर्गव्रत, स्नान का त्याग, स्वच्छ भूमि पर शयन, वस्त्रत्याग, केशलुञ्चन करना, एक बार थोड़ा भोजन करना, अदन्तधावन-दतौन न करना एवं खड़े होकर आहार लेना ये अट्ठाईस मूलगुण मुनियों के होते हैं। मुनिराज चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन भी करते हैं।

मुनिराज शुद्धोपयोग के द्वारा अपनी आत्मा का अनुभव करते हैं, परद्रव्य में अहंबुद्धि नहीं करते, ज्ञानादि स्वभाव को ही अपना मानते हैं। अपने ज्ञान में झलकने वाले परद्रव्य और उनके स्वभाव को जानते तो हैं, पर इष्ट अनिष्ट मानकर उनमें राग द्वेष नहीं करते। रोग, बुढ़ापा, मान, सम्मान आदि में कुछ भी सुख दुःख नहीं मानते। अपने उपयोग को भी चंचल नहीं करते, जहाँ तक होता है उदासीन होकर निश्चलवृत्ति धारण करते हैं। यदि कभी मन्दराग के उदय से शुभोपयोग की प्रवृत्ति हुई तो उसे भी शुद्धोपयोग में लगाने की चेष्टा करते हैं। अन्तरंग को दूषित करने वाले विकार, कषाय और वासनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं तथा बहिरंग में सौम्य दिगम्बर मुद्रा को धारण करते हैं, उनके पास तिलतुष मात्र भी परिग्रह नहीं होता। मुनि धर्म के सहायक शरीर को धारण करने के लिये उचित आहार विहारादि क्रियाओं को सजग होकर करते हैं। द्वादश तप और दस धर्मों का पालन करते हैं। मुनियों के तेरह प्रकार के चारित्र का वर्णन निम्न प्रकार है।

अहिंसा महाव्रत—प्रमाद-असावधानता यानी चार विकथा-स्त्री कथा, भोजन कथा, राष्ट्रकथा और अवनिपाल कथा, चार कषाय-क्रोध, मान, माया और लोभ, पांच इंद्रिय-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र; निद्रा और प्रणय इन पन्द्रह प्रमादों से युक्त अपने तथा पर के प्राणों का घात करना या घात करने का विचार करना हिंसा है, इसका पूर्णरीति से त्याग करना अहिंसा महाव्रत है।

सत्य महाव्रत—प्रमाद के योग से असत्—अप्रशस्त वचन कहना अनृत या असत्य है, इसका पूर्ण रूप से त्याग करना सत्य महाव्रत है।

अचौर्य महाव्रत—मन, वचन, काय से किसी की कोई भी वस्तु लेने की प्रवृत्ति न करना अचौर्य महाव्रत है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत—कुशील का अठारह हजार भेदों सहित त्याग करना तथा रागरूप रमण की प्रवृत्ति का मन, वचन काय से त्याग करना ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

परिग्रहमहाव्रत—पदार्थों को ग्रहण करने रूप मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को पूर्णरूप से रोकना अपरिग्रह महाव्रत है।

प्रमाद का त्याग करने के लिये मुनिराज समितियों का पालन करते हैं। जब तक मनुष्य में प्रमाद वर्तमान रहता है, तब तक वह पूर्ण अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। अहिंसा महाव्रत को निरतिचार पालने के लिये समितियों का पालना आवश्यक है। समितियां पांच हैं—

ईर्या समिति—आलस्य रहित हो चार हाथ जमीन आगे देखकर चलना।

भाषा समिति—हित, मित और प्रिय वचन बोलना।

ऐषणा समिति—दिन में एक बार शुद्ध निर्दोष आहार लेना।

आदान निक्षेपण समिति—अपने पास के शास्त्र, पीछी, कमण्डलु प्रभृति को भूमि देखकर सावधानी से धरना-उठाना।

प्रतिष्ठापना समिति—स्वच्छ भूमि में जहाँ जीव, जन्तु न हों मल, मूत्र का त्याग करना।

इस प्रकार जो उपरोक्तादि इन अट्ठाईस मूल गुणों का तथा इनकी वृद्धिरूप चौरासी लाख उत्तर गुणों का सम्यक् रीति से पालन करता है, वही सच्चा साधु या मुनि है। कोई भी व्यक्ति कुल परम्परा से, भगवा, श्वेत, लाल आदि वस्त्रों के धारण करने से, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होने से, नग्न रहने से, शरीर में भस्म लगाने से, शरीर को कष्ट देने वाली विभिन्न प्रकार की व्यवस्थायें करने से विषय-कषाय में लीन रहकर नाना प्रकार के चमत्कारी कार्य करने से एवं

परिग्रह त्यागी होने पर भी अन्तरंग में विषयेच्छा के रहने से तथा मायाचारी बन कर संसार को ठगने से सच्चा साधु नहीं हो सकता। क्रोध करना, मान-माया-लोभ के वश रहना राग, द्वेष रूप परिणाम करना, इच्छाओं के आधीन होकर सांसारिक विषयों में प्रवृत्ति करना; सच्चे साधु का स्वभाव नहीं हो सकता। क्षमा, दया, धैर्य, अन्तरंग की शुद्धि प्रलोभनों का अभाव, तिल-तुष मात्र परिग्रह से रहित, परम ज्ञानी, परमध्यानी भेद विज्ञान के मर्मज्ञ ही सच्चे साधु हो सकते हैं।

निष्कर्ष यह है कि पंच परमेष्ठी ही मान्य हैं। क्योंकि जैनागम में आत्मिक विकास की अपेक्षा से देवत्व माना है। वास्तव में रत्नत्रय को ही देव बताया गया है, इस रत्नत्रय का जिस जीव में जितना विकास रहता है, उसमें उतना ही देवत्व को विकसित माना जाता है। श्री धवल शास्त्र में इसी बात का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार किया गया है—

शंका—आत्म स्वरूप को प्राप्त अर्हन्त और सिद्धों को देव मानकर नमस्कार करना ठीक है, किन्तु जिन्होंने आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं किया है, ऐसे आचार्य, उपाध्याय और मुनि को कैसे देव मानकर नमस्कार किया जाय?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि अपने अनन्त भेदों सहित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र का नाम देव है, अतः इन तीनों गुणों से विशिष्ट जो जीव है वह भी देव कहलाता है। यदि रत्नत्रय को देव नहीं माना जायगा तो सभी जीव देव हो जयेंगे। अतः आचार्य, उपाध्याय और मुनियों को भी देव मानना चाहिये क्योंकि रत्नत्रय का अस्तित्व अर्हन्तों की तरह इनमें भी पाया जाता है।

सिद्ध परमेष्ठी के रत्नत्रय की अपेक्षा आचार्य आदि परमेष्ठी का रत्नत्रय भिन्न नहीं है। यदि दोनों रत्नत्रय में सर्वथा भेद मान लिया जाय, तो आचार्यादि में रत्नत्रय का अभाव हो जायगा।

शंका—जिन्होंने रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्णता को प्राप्त कर लिया है, उन्हीं को देव मानना चाहिये; रत्नत्रय की अपूर्णता जिनमें रहती है, उनको देव मानना असंगत है।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है। यदि एकदेश रत्नत्रय में देवत्व नहीं माना जायगा तो सम्पूर्ण रत्नत्रय में देवत्व नहीं बन सकेगा अतः आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु भी देव हैं।

इस प्रकार जैन आम्नाय में देव कोई अलौकिक परोक्ष सत्ताधारी शक्ति नहीं है, किन्तु यह जीव जितना विशुद्ध होकर रत्नत्रय का विकास करता है उतने ही रूप में उसमें देवत्व शक्ति आ जाती है। वस्तुतः पूर्णरूप से शुद्ध आत्मा ही देव है ॥5 ॥

यक्षिणी और यक्ष का स्मरण

जिसका कमलरूपी मुख है और जो जैन धर्म की प्रभावना करने वाली है तथा मिथ्यात्वरूपी पर्वत को जो भेदने के लिये वज्र के समान है, समस्त भव्य जीवों को प्रसन्न करने वाली है, धर्म पिपासु है, कोमलाङ्गी है, उत्तम मांगल्यरूप सद्धर्म में संलग्न है, ऐसी जिन सेविका यक्षिणी देवी मेरे उत्तम काव्य के सृजन में सहायक हो ॥6 ॥

श्री 1008 शुभ लक्षणों से युक्त श्री अर्हन्त भगवान के चरणकमलों में भ्रमर के समान मत्त रहने वाला, सम्यग्दर्शन रूपी आभरण से युक्त गजमुख यक्ष जो सर्वदा भव्य जीवों को अपने कार्यों में सहायक होता है, मेरी काव्य रचना में सहायक हो ॥7 ॥

विवेचन—इन दोनों पद्यों में आचार्य ने यक्षिणी और गजमुख यक्ष से अपने कार्य में सहायता करने के लिये याचना की है। आचार्य इस लौकिक रीति को बतलाते हैं कि किसी भी कार्य के प्रारम्भ में अपने सहधर्मियों से उसकी सफलता के लिये अनुरोध करना आवश्यक सा है। यक्षिणी और गजमुख यक्ष सम्यग्दृष्टि हैं, सच्चे वीतरागी देव न होने पर भी सम्यग्दृष्टि होने के कारण उनकी सद्भावनाओं से काव्य रचना करने में सहायता प्राप्त हो सकती है।

जैनाम्नाय में देव चार प्रकार के बताये गये हैं—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। यक्षिणी और गजमुख यक्ष व्यन्तरों के भेदों में से हैं। व्यन्तर देवों के किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ भेद बताये गये हैं। व्यन्तर देव बहुत शक्तिशाली होते हैं, इनमें जम्बूद्वीप को उलटने की सामर्थ्य वर्तमान है।

ये चारों ही प्रकार के देव संसारी सरागी होने के कारण सच्चे देव के समान पूज्य नहीं हैं। इन देवों में राग, द्वेष, छल, कपट, मायाचार, विषय-वासना, लोभ आदि विकार मनुष्यों के समान है; फिर भी व्यक्ति की अपेक्षा ये हमसे बड़े हैं। हमारे किसी भी लौकिक कार्य में साधक या बाधक हो सकते हैं। नयसेनाचार्य ने यक्ष, यक्षिणी की स्तुति नहीं की, किन्तु साधर्मी होने के नाते अपने इस महान् कार्य में सहायक होने की इच्छा प्रकट की है। स्तुति, वन्दना, नमस्कार, सच्चे वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी देव के ही किये जा सकते हैं। सम्यग्दृष्टि श्रावक वीतरागी जिनेन्द्र भगवान् के सिवा अन्य को नमस्कार या प्रणाम नहीं करता है। भय, आशा, स्नेह, लोभ या अन्य किसी प्रकार की भौतिक आकांक्षा से प्रेरित होकर सम्यग्दृष्टि को सरागी देवों की पूजा, स्तुति और नमस्कार नहीं करने चाहिये। ऐसा करने से उसका सम्यक्त्व दूषित होता है।

इतना स्मरण रखना होगा कि जैनागम में यक्ष और यक्षिणी की स्थिति सम्यग्दृष्टि सरागी देवों के रूप में ही मानी गयी है, ये सच्चे वन्दनीय देव नहीं हैं। इनका सत्कार सहधर्मी होने के कारण किया जा सकता है। जैसे लोक में विद्या गुरु, माता, पिता, बड़े भाई या अन्य साधर्मी भाइयों का सत्कार करते हैं, अभिवादन करते हैं, और उन्हें उच्चासन प्रदान करते हैं, उसी प्रकार इनका भी सम्मान किया जा सकता है। ये यक्षादि देव साधर्मी भाइयों पर जब संकट आता है, सहायता करते हैं और अपने प्रभाव अथवा शक्ति का प्रदर्शन कर धर्म की पूर्ण प्रभावना करते हैं। चौबीस तीर्थंकर भगवानों की चौबीस यक्षिणियाँ बतायी गई हैं। ।6-7।।

सरस्वती का स्तवन

सरस्वती माता जिस प्रकार शाश्वत और चिरन्तन अपने अनुपम सौन्दर्य एवं चाञ्चल्य द्वारा लोगों के मन को शारीरिक दृष्टि से आकर्षण करती है—अनुपम सुन्दरी है, उसी प्रकार हे माता! आप अपने दिव्य तेज और अनुपम प्रभाव सहित काव्य बनाने के लिये मेरे मुख में निवास करिये ॥8 ॥

विवेचन—इस पद्य में कवि ने सरस्वती माता की स्तुति की है। देव, शास्त्र और गुरु-इन तीनों का स्थान समान है। आराधक इन तीनों आराध्य के चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है और इनके प्रसाद को प्राप्त कर अपने काव्य को पूर्ण करने का संकल्प करता है। कवि परम्परा में सरस्वती की बड़ी भारी महत्ता मानी गयी है। इसको प्रसन्न किये बिना कोई भी कवि अपने काव्य को निर्विघ्न रूप से पूर्ण करने में समर्थ नहीं होता। वस्तुतः शास्त्रज्ञान द्वारा ही सन्मार्ग या मोक्षमार्ग का दर्शन हो सकता है।

जैन परम्परा में कोई पार्थिव शरीर धारणी देवी सरस्वती नहीं मानी गयी है, किन्तु तीर्थंकर के मुख से निकली हुई दिव्यवाणी ही सरस्वती है। ऊपर केवल जिनवाणी का अलंकारिक वर्णन ही है; क्योंकि कवि लोग जिनवाणी की कृपा से ही काव्य सृजन करते हैं—

सरस्वत्याः प्रसादेन काव्यं कुर्वंति मानवाः।
तस्मान्निश्चलभावेन पूजनीया सरस्वती॥

जिनवाणी के भारती, सरस्वती, शारदा, वागीश्वरी, कुमारी, ब्रह्मचारिणी, जगन्माता, ब्राह्मणी, ब्रह्माणी, वरदा, वाणी, श्रुतदेवी, गो ये नाम बताये गये हैं। षट्खण्डागम वेदना खण्ड की टीका में बताया है कि तीर्थंकर भगवान् अपने दिव्य-ज्ञान के द्वारा पदार्थों का साक्षात्कार कर बीज पदों द्वारा उनका निरूपण करते हैं, ग्रन्थरूप से लिपि बद्ध नहीं करते हैं, इसलिये वे अर्थ कर्त्ता हैं और गणधर देव उन बीज पदों और उनके अर्थ का अवधारण कर ग्रन्थरूप से व्याख्यान करते हैं

अत: वे ग्रन्थकर्त्ता कहे जाते हैं। यही दिव्यध्वनि सरस्वती है। कविवर अर्हदास ने भी सरस्वती का निम्न प्रकार वर्णन किया है।

वीरादिव क्षीरनिधे: प्रवृत्ता सुधेव वाणी सुधिया कलश्या।
विधृत्य नीता विबुधाधिपैर्मे निषेविता नित्यसुखाय भूयात्॥

अर्थ—क्षीरसमुद्र रूपी श्री महावीर तीर्थंकर से निकली हुई तथा सुबुद्धि रूपी गणधरों के द्वारा लाकर सेवित हुई सुधा रूपिणी सरस्वती मेरे अनन्त सुख की सम्पादिका होवे।

अनादि निधन होते हुए भी आगम में श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक ये दो भेद बताये हैं। अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के असंख्यात भेद है और अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के संख्यात भेद है। सामान्य से पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्तिक, प्रतिपत्तिकसमास, अनुयोग, अनुयोगसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृतसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व एवं पूर्वसमास ये बीस भेद श्रुतज्ञान के हैं। इस श्रुतज्ञान का आश्रय लेकर कोई भी व्यक्ति आत्म कल्याण के पथ का अनुसरण कर सकता है, कुमार्ग से दूर हो सकता है, अत: माता के समान हितकारी सरस्वती वन्दनीय है। श्रुतज्ञान के भेदों का स्वरूप श्रुतस्कंध यन्त्र द्वारा अवगत करना चाहिये॥8॥

पट्टावली

9 वें पद्य से लेकर 39 वें पद्य तक कवि ने गुरु परम्परा का स्मरण किया है, किन्तु इसमें कालक्रम का ध्यान नहीं रखा गया है। परम्परा निम्न प्रकार बतायी है—

अर्हत्बली, गुणधर भट्टारक, आर्यमंक्षु, नागहस्ति, धरसेनाचार्य, पुष्पदन्त, भूतबली, जयनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, जटासिंहनन्दी, कूची भट्टारक, समन्तभद्र, पूज्यपाद, विद्यानन्दी, सिद्धसेन, श्रुतकीर्ति, प्रभाचन्द्र, जिनसेन पंडित, यति वृषभसेन, शुभचन्द्र, सिद्धान्तदेव,

रामनन्दीसैद्धान्तिक, जिनसेनाचार्य, इंद्रसेन, भेरुण्ड पण्डित, सिद्धान्तेश, वादिराज, मेघचन्द्र कीर्तिदेव, राजसिंह, पद्मनन्दी, सागरचन्द, वासुपूज्य भट्टारक, प्रभाचन्द्र भ., चारुसेनाचार्य, अमोघचन्द्र, श्रीरामसेनवती, कनकनन्दी, अकलंकदेव, माघनंदी, पम्प, रन्न, भन्न और गुणधर्म का स्मरण किया है।

विवेचन—इस युग के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के मुख से निकली दिव्यध्वनि को ग्रहण करने वाले गौतम गोत्री वेदवेदाङ्ग में प्रवीण इंद्रभूति ने बारह अंग और चौदह पूर्व रूप ग्रन्थों की एक ही मुहूर्त में क्रम से रचना की, अतः भावश्रुत और अर्थपदों के कर्त्ता तीर्थंकर हैं तथा तीर्थंकर के निमित्त से गौतम गणधर द्रव्यश्रुत के कर्त्ता हैं। गौतम गणधर ने दोनों प्रकार का श्रुतज्ञान लोहाचार्य को दिया, लोहाचार्य ने जम्बूस्वामी को दिया। ये तीनों ही आचार्य सकलश्रुत के ज्ञाता थे। इनके निर्वाण के पश्चात् विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पांचों ही आचार्य चौदह पूर्व के धारी हुए।

इनके पश्चात् विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थदेव धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह अंग और उत्पादपूर्व आदि दस पूर्वों के धारक तथा शेष चार पूर्वों के एकदेश के धारक हुए। इनके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन और कंसाचार्य ये पांचों ही आचार्य सम्पूर्ण ग्यारह अंगों के और चौदह पूर्वों के एकदेश के धारक हुए। तदनन्तर सुभद्र, यशोभ्रद, यशोबाहु और लोहार्य ये चारों ही आचार्य सम्पूर्ण आचारांग के धारक और शेष अंग तथा पूर्वों के एकदेश के धारक हुए। अनन्तर सभी अंग और पूर्वों के एकदेश ज्ञाता आचार्य धरसेन हुए, इनके शिष्य भूतबली और पुष्पदन्त श्रुत ज्ञाता हुए।

नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली में अर्हद्बलि, माघनन्दि और धरसेन को क्रमशः उत्तराधिकरी बताया है अतः नयसेनाचार्य के द्वारा दी गयी पट्टावली में उल्लिखित अर्हद्बली माघनन्दी के गुरु प्रतीत होते हैं तथा धरसेनाचार्य के गुरु माघनन्दी बताये गये हैं। श्रवणबेल गोल शिलालेख नं. (105) में अर्हद्बली को संघभेद कर्त्ता एवं पुष्पदन्त और भूतबली का गुरु बताया है—

य: पुष्पदन्तेन च भूतबल्याख्येनापि शिष्यद्वितीयेन रेजे।
फलप्रदानाय जगज्जनानां प्राप्तोऽङ्कुराभ्यामिव कल्पभूज:॥
अर्हद्वलिस्संघचतुर्विधं स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसंघम्।
कालस्वभावादिह जायमान द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे॥

पट्टावली में गुणधर भट्टारक का नाम आया है, यह कषाय प्राभृत के मूल उद्धार कर्त्ता हैं। जयधवला टीका में एक-सौ अस्सी गाथाओं में कषाय प्राभृत की रचना करने वाला इन्हें कहा गया है। आचार्य आर्यमंक्षु और नागहस्ति ने गुणधर भट्टारक द्वारा रचित कषाय प्राभृत का अध्ययन कर यति-वृषभ को पढ़ाया।

वराङ्गचरित के कर्त्ता जटासिंहनन्दी; कोप्पल के शिलालेख में उल्लखित जटानन्दी; समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थों के कर्त्ता नन्दिसंघीय आचार्य कुन्दकुन्द वि. सं. 49 में हुए। रत्नकरण्डश्रावकाचार, वृहद्स्वयंभूस्तोत्र आदि ग्रन्थों के रचयिता दूसरी शती के आचार्य समन्तभद्र; सर्वार्थसिद्धि के कर्त्ता पांचवीं शताब्दी के आचार्य पूज्यपाद; प्रमाण परीक्षा, प्रमाण निर्णय, अष्टसहस्त्री आदि ग्रन्थों के रचयिता वि. सं. 681 में हुए आचार्य विद्यानन्दी, वृहत् षट्दर्शन समुच्चय, नमस्कारमाहात्म्य आदि ग्रन्थों के कर्त्ता आचार्य सिद्धसेन; हरिवंशपुराण (प्राकृत) के रचयिता आचार्य श्रुतकीर्ति; प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के कर्त्ता नन्दिसंघीय लोकचन्द्र के शिष्य प्रभाचन्द्र; आदि पुराण के कर्त्ता जिनसेन ज्ञानार्णव के कर्त्ता आचार्य शुभचन्द्र; वि. सं. 561 में हुए रत्ननन्दी; सेन संघीय एकीभावस्तोत्र, वादमञ्जरी आदि ग्रन्थों के रचयिता वादिराज; समाधिशतक के टीकाकार वि. सं. 601 में हुए मेघचन्द्र, पात्रकेसरी स्तोत्र के कर्त्ता रामसेन; धर्मरत्नाकर श्रावकाचार के कर्त्ता राजसिंह; जम्बूदीपप्रज्ञप्ति, धर्मरसायन पद्मनन्दि पंचविंशतिका, चरणसार के कर्त्ता पद्मनन्दि; दानसार के रचयिता वासुपूज्य; ज्ञानसूर्योदय नाटक (प्राकृत), चतुर्विंशति स्थानक टीका के रचयिता कनकनन्दि; देवसंघीय राजवार्तिक, अष्टशती, न्यायविनिश्चयालंकार आदि ग्रन्थों के कर्त्ता आचार्य अकलंकदेव; अर्हद्बली के शिष्य माघनन्दि; कन्नड़ आदि पुराण के रचयिता ई. सन् की दसवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध कन्नड़ कवि पंम्प; कविरत्न, कविचक्रवर्ती, कविकुंजरां कुश, उभयभाषा कवि इत्यादि पदवियों से विभूषित

राजमान्य अजितपुराण और गदायुद्ध के रचयिता कविरत्न एवं हरिवंश पुराण के रचयिता ई. सन् 1050 में हुए कवि गुणवर्म का नामोल्लेख पट्टावली में किया है। कूची भट्टारक, जिनसेन पंडित, सिद्धनाथ देव, रामानन्दी सैद्धान्तिक, भेरु पंडित, सिद्धान्तेश, कीर्तिदेव, सागरचन्द्र एवं चारुसेन के भी नाम दिये हैं, पर इन आचार्यों एवं साहित्यनिर्माताओं के सम्बन्ध में अन्वेषण करने पर विशेष वृत्त अवगत हो सकेगा।

आचार्य जयसेन ने अपने पूर्ववर्ती प्रायः समस्त प्रसिद्ध आचार्यों का नामोल्लेख कर दिया है। इस पट्टावली के आधार से कई प्रसिद्ध आचार्यों के समय का निर्णय किया जा सकता है।

श्रृंगार रस की कविता करने वाले कवियों का निरूपण

श्रृंगार रस एवं उसके सहायक विभाग, अनुभाव और संचारी भावों का वर्णन कर जनता का मनोरञ्जन करने वाले अनेक कवि हैं ॥40॥

विवेचन—काव्य मनीषियों ने काव्य की आत्मा रस को माना है। रस आनन्द स्वरूप है, जब हम किसी उत्तम काव्य को एकाग्रचित्त से पढ़ते हैं तो मनमें निश्चलता आती है, जिससे हमें नैसर्गिक आनन्द की प्राप्ति होती है। श्रृंगार, वीर, करुणा, हास्य, अद्भुत, भयानक, रौद्र, वीभत्स और शान्त ये नव रस बताये गये हैं। स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव ये चारों भाव इसके अंग माने गये हैं। इन्हीं के मिलने से रस की उत्पत्ति होती है। काव्य शास्त्र में यों तो नवों रसों का प्रयोग होता है, पर प्रधानता श्रृंगार, करुणा, वीर और शान्त रस की बतायी गई है।

साहित्य शास्त्रियों ने बताया है "नित—नित नूतन होने वाले सौन्दर्य के सुखद एवं मन्द मन्द परिवर्तनों में चित्त को लगाये रखना, वियोग में उनकी स्मृति एवं तज्जन्य शोक के नये-नये रूपों में मन को लीन रखना, चित्त में प्रियवस्तु सम्मिलन

से उसकी प्राप्ति का सुख धीरे धीरे आस्वादन करना, वियोग में प्रिय वस्तु की गुणावली के स्मरण द्वारा शोक करते हुए भी प्रिय वस्तु की प्राप्ति की उत्कट उत्कण्ठा के सहारे भावी आनन्द का रसास्वादन करना ही श्रृंगार रस है'' कवियों ने इसे रसराज बताया है, यह समस्त आमोद का अधिष्ठाता और प्रीति का प्राण है।

इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण रस आविर्भूत होता है। इसमें स्थायी भाव शोक होता है और विनष्ट आदि शोचनीय व्यक्ति आलम्बन विभाव होते हैं तथा उसका दाहकर्म आदि उद्दीपन होते हैं। प्रारब्ध की निन्दा, भूमिपतन, रोदन, विवर्णता, उच्छ्‌वास, नि:श्वास, स्तम्भ और प्रलाप इस रस के अनुभाव होते हैं। निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिन्ता इसके व्यभिचारी भाव हैं।

आत्म कल्याण के लिये श्रृंगार रस उपयुक्त नहीं; क्योंकि इसके द्वारा वासनाओं को उत्तेजना ही मिलती है। श्रृंगार रस के निरूपण करने वाले अनेक कवि हुए हैं पर इस वर्णन द्वारा वे जन समाज का नैतिक उत्थान नहीं कर सके हैं। वासना यों ही मनुष्य में प्रबल होती है, श्रृंगार रस का निमित्त पाकर वह और भी उत्तेजित हो जाती है, जिससे अपथ में जाना स्वाभाविक है। आचार्य ने उक्त पद्य में सांसारिक प्रवृत्ति का निरूपण करते हुए बताया है कि कवियों की रुचि प्राय: श्रृंगार रस के निरूपण की ओर रहती है ॥40॥

सत्काव्य और असत्काव्य का स्वरूप

नवीन कन्नड़ का चिन्तन करने वाला, छन्द-अनुप्रास-विराम का विशेष ख्याल रखने वाला, असत् शब्दों का प्रयोग करने वाला एवं गुरु लघु के द्वारा तुकबन्दी करने वाला क्या सत् कवि हो सकता है? अपितु कभी नहीं ॥41॥

विवेचन—कवि होने के लिये आत्मानुभूति का होना आवश्यक है। केवल भाषा व्याकरण, छन्द, अलंकार आदि को जानने मात्र से कोई भी कवि नहीं हो

सकता। काव्य की आत्मा रस है। पर यह रस भी आत्मानन्द रूप ही होता है, विषयानन्द रूप नहीं। जो कवि आत्मानन्द को स्वयं अपनी आत्मा में प्राप्त कर लेता है, आत्मा की शुद्धि कर लेता है, वह शब्दों के माध्यम द्वारा कविता के सहारे आत्मानुभूति को अन्य पाठकों को दे देता है, जिससे श्रोता या पाठक उसकी कृति से लाभ उठाते हैं। आनन्द आत्मा का गुण है, इसकी प्राप्ति तभी हो सकती है, जब भेद विज्ञान हो जाय। जब तक जीव मिथ्यात्व से ग्रस्त रहता है तब तक उसे स्वानुभूति की प्राप्ति हो नहीं सकती। कवि या लेखक के लिये यह आत्यावश्यक है कि वह सांसारिक विषयों में रुलाने वाली रचना न करे। जिन रचनाओं के पढ़ने से विषय वासना उमड़ती है, वे रचनायें आत्मविकास में बाधक होती हैं।

जैन मान्यता में वही सत् काव्य माना जाता है, जो आत्मोत्थान में सहायक हो। जिसमें प्रभु भक्ति का वर्णन हो या त्रेसठ शलाका पुरुषों का चरित्र वर्णित हो अथवा द्रव्य और तत्त्व सम्बन्धी चर्चा की गयी हो। चार अनुयोग—प्रथमानुयोग, द्रव्यानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग ही प्रमाण माने गये हैं, क्योंकि इन चारों अनुयोगों के स्वाध्याय से आत्मोत्थान किया जा सकता है। प्रथमानुयोग में त्रेसठ शलाका पुरुषों—चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र की कथायें रहती हैं, जिससे इनके सच्चरित्र तथा आत्मशुद्धि के विकास क्रम से कोई भी व्यक्ति बहुत कुछ सीख सकता है। पुण्यात्माओं के चारित्रों के अध्ययन से आत्मोत्थान की प्रेरणा मिलती हैं तथा दृष्ठान्त के द्वारा साधारण व्यक्ति भी कल्याण मार्ग में प्रवृत्त हो सकता है। समस्त पुराण इसी अनुयोग में आते हैं। प्रसिद्धि भी है कि केवल महापुराण—आदि पुराण और उत्तर पुराण के स्वाध्याय से जैनागम का बहुत कुछ सार भाग जाना जा सकता है। कविताबद्ध रहने से ये पुराण सरस होने के साथ-साथ आत्म कल्याण में भी सहायक होते हैं। द्रव्यानुयोग में द्रव्य चर्चा रहती है, इसमें प्रधानतः छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, नव पदार्थों का वर्णन किया जाता है। तत्त्वों का ज्ञान इसी अनुयोग से प्राप्त किया जा सकता है, करणानुयोग में त्रिलोक का आकार, विस्तार, गणित एवं भूगोल सम्बन्धी ज्ञान निबद्ध है, इनके द्वारा ज्ञान की वृद्धि तो होती ही है, साथ ही आत्मोत्थान की प्रेरणा भी मिलती है और उपयोग स्थिर होता है।

चरणानुयोग में श्रावक और मुनि के आचार-व्यवहार का वर्णन रहता है तथा किस प्रकार चारित्र सुधार के द्वारा अपनी आत्मा का उत्थान किया जा सकता है और निर्वाण मार्ग मिल सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को इन चारों अनुयोगों के स्वाध्याय द्वारा अपना विकास करना चाहिए। ये ही सत्काव्य हैं ॥41॥

सत्काव्य सज्जनों के लिये आनन्द देने वाला होता है, किन्तु दुर्जनों के लिये मनहूसी (खेद) का कारण उस तरह बन जाता है, जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश उल्लू के लिये ॥42॥

विवेचन—आत्मोत्थानकारक साहित्य सज्जनों के लिए ज्ञानवर्द्धक होने के साथ आनन्द प्रदान करने वाला होता है। सज्जनों का ध्यान सर्वदा कल्याण की ओर रहता है, संसार के विषय कषायों की ओर उनकी प्रवृत्ति कम से कम होती है। जिन रचनाओं के अध्ययन से वासनाओं को उत्तेजना मिलती है वे रचनायें सत्काव्य में परिगणित नहीं की जा सकती हैं। सत्काव्य के अध्ययन से आत्मरसिक पुरुषों को अपार आनन्द होता है, उनकी राग प्रवृत्ति जिसके कारण वे विषयों में प्रवृत्ति करते हैं, घट जाती हैं। राग भाव के घटने से समता बुद्धि की उत्पत्ति हो जाती है, जिससे उन्हें अहर्निश आत्मानुभूति से उत्पन्न आनन्द का अनुभव होने लगता है।

दुर्जनों को सत्काव्य आनन्द नहीं दे सकता, ये रागात्मक श्रृंगार रस के पोषक काव्यों को पढ़कर अपनी शक्ति को नष्ट करते हैं तथा इसी प्रकार के काव्यों में उन्हें आनन्द आता है। असत्काव्यों के पढ़ने से चारित्रिक अवनति भी होती है तथा आत्मविश्वास चला जाता है और जीवन के वास्तविक ध्येय से व्यक्ति वंचित हो जाता है। शास्त्र स्वाध्याय के लिए ऐसे ही काव्यों या चारित्र ग्रन्थों को लेना चाहिए, जिनके स्वाध्याय से चारित्र की वृद्धि हो तथा आत्मा के अहितकारक विषय-कषायों से घृणा उत्पन्न हो जाय ॥42॥

जैसे कुंए में रहने वाला मेंढक, जिसने कभी समुद्र का दर्शन नहीं किया है, वह कुएं को ही सब कुछ समझ कर घमण्ड में चूर रहता है, उसी प्रकार कुकवि

जिसने कभी सत्काव्य का दर्शन नहीं किया है, वह कुकाव्य को ही सब कुछ समझता है ॥43 ॥

विवेचन—जिस काव्य के अध्ययन से रत्नत्रय की प्राप्ति हो, वह सत्काव्य और जिसके अध्ययन से रत्नत्रय की प्राप्ति न हो तथा जो उलटा रत्नत्रय की प्राप्ति में बाधक हो उसे असत्काव्य कहते हैं। राग-द्वेष से समाक्रान्त व्यक्तियों को सत्काव्य अच्छा नहीं लगता है, उनका मन ऐसे काव्यों में नहीं लगता, जिनमें अपने को समझने का प्रयत्न किया गया है। वास्तव में गहराई से विचार करने पर कोई भी व्यक्ति सत्काव्य की उपयोगिता को अच्छी तरह जान सकता है, क्योंकि सत्काव्य क्षणिक आनंद प्रदान नहीं करता, बल्कि वह शाश्वत आनन्द देता है। उसके पठन और मनन से व्यक्ति को ऐसा प्रकाश मिलता है, जिसके द्वारा वह सहज में ही अपना विकास कर लेता है।

दुर्जन पुरुषों को कुकाव्य ही अच्छा लगता है। उन्हें स्त्रियों की चर्चाएं उनके अंग-प्रत्यंग की बनावट तथा उनका सौन्दर्य ही विशेष रचता है। यह भी सुनिश्चित है कि सभी कवि सत्काव्य का सृजन नहीं कर सकते हैं, किसी एकाध पुण्यात्मा की वाणी ही ऐसी हो सकती है, जो रत्नत्रय की प्राप्ति में सहायक बन सके। अधिकांश कवि ऐसे होते हैं, जिनकी वाणी चमत्कार तो उत्पन्न करती है, पर आत्मोत्थान का मार्ग प्रस्तुत नहीं कर सकती है। कविवर अर्हद्दासजी ने अपने मुनिसुव्रत काव्य में सज्जन और दुर्जनों के इस प्रकृत स्वभाव का सुन्दर चित्रण किया है। कवि कहता है—

संतः स्वभावाद् गुणरत्नमन्ये गृह् णन्ति दोषोपलमात्मकीयम्।
यथा पयोऽस्त्रं शिशवो जलौकाः जनो वृथा रज्यति कुप्यतीह॥

भावार्थ—सज्जन पुरुष स्वभाव से गुणग्राही होते हैं और दुर्जन दोषग्राही। सत्कवि स्वभाव से ही ऐसी रचना करता है जिससे वह तथा उसकी रचना के पाठक और अध्येता रत्नत्रय मार्ग को प्राप्त कर सकें या इस मार्ग में उत्तरोत्तर प्रगति कर

सकें। दुर्जन पुरुष और असत्कवि भी स्वभावत: दुर्गुण ग्राही होते हैं, वे सांसारिक विषयों का अनुरागोत्पादक वर्णन करते हैं जिससे अपना तथा अपने पाठकों का अहित करते हैं। ऐसे कुकवियों की रचनाएं थोड़े समय के लिये भले ही समादरणीय हो जायें, पर उनका वास्तविक आदर नहीं होता है। बालक जैसे स्तन के दूध का पान करता है और जोंक खून का; उसी प्रकार सत्कवि अपनी अनुभूति का उपयोग आत्मकल्याण के लिये करता है, उसकी कल्पना अविषयों की ओर नहीं जाने पाती है। परन्तु कुकवि की अनुभूति और कल्पना दोनों ही नियन्त्रण रहित होती हैं, जिससे वह असत् विषयों में ही दौड़ लगाता है ॥43॥

कुकवि और सुकवि के स्वभाव का निरूपण

जिस प्रकार चूहा और खोटन बढ़ैया—पेड़ में छिद्र करने वाला पक्षी, इन दोनों का एक ही काम होने पर भी दोनों में महान् अन्तर है, उसी प्रकार कुकवि और सुकवि में भी बड़ा भारी अन्तर होता है ॥44॥

विवेचन—यद्यपि काव्य रचना सुकवि और कुकवि दोनों ही करते हैं, दोनों ऊपर से देखने में एक से ही मालूम पड़ते हैं, फिर भी दोनों में महान् अन्तर होता है एक कार्य करते हुए भी दोनों में भेद डालने वाली बड़ी भारी खाई होती है। जहाँ कुकवि केवल श्रृंगार रस का नख-शिख वर्णन करने में ही अपनी विशेषता और सफलता मानता है, वहाँ सुकवि आत्मानुभूति और समता का वर्णन कर अपने को कृतकृत्य समझता है। प्रथम का ध्येय भौतिक, सांसारिक क्षणिक एवं इन्द्रिय तृप्ति तक ही है, पर द्वितीय का ध्येय व्यापक, आध्यात्मिक, शाश्वत और आत्मतृप्ति करने वाला होता है। कविवर भूधरदास जी ने कुकवि की निन्द. करते हुए बताया है कि—

राग उदै जग अन्ध भयो, सहजैं सब लोगन लाज गमाई।
सीख बिना नर सीखत हैं, विषयादिक सेवन की पुघराई॥
तापर और रचैं रस काव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई।
अन्ध असूझन की अखियानि में, झौंकत हैं रज रामदुहाई॥

भावार्थ—मोहोदय के कारण मनुष्य अन्धा हो जाता है जिससे वह अपने करणीय कार्यों को छोड़कर पथ भ्रष्ट हो जाता है और बिना सिखाये विषयों के सेवन की दक्षता प्राप्त कर लेता है। इतने पर भी कुकवि लोग श्रृंगार की रचना कर मनुष्यों को नरक में पहुँचाते हैं। कवि कहता है कि तुम्हें कसम है, तुम अन्धे पुरुष की आँखों में धूल मत फेंको। सत्कवि कल्याणकारी रचनाएं कर समाज के चारित्र के मापदण्ड को उन्नत बनाता है ॥44॥

सत्काव्य सज्जनों को आनन्द देता है

जब मोर नाचता है, तब उसके मनोहर नृत्य को देखकर सरस हृदय विवेकी प्रसन्न हो जाते हैं, किन्तु कुत्ता नाराज होकर उसे काटने दौड़ता है ॥45॥

यह काव्य ग्रन्थ भी सत्कवियों एवं सहृदयों को आनन्द देगा, पर कुकवि और मिथ्यादृष्टियों को अच्छा नहीं लगेगा ॥46॥

विवेचन—अच्छी वस्तु को देखकर सज्जन पुरुष प्रसन्न होते हैं, उनके हृदय में आनन्द की बाढ़ आ जाती है, पर दुष्ट पुरुष उसी मनोहर वस्तु को देखकर अप्रसन्न होते हैं। यह प्रसन्नता और अप्रसन्नता स्वभाव के ऊपर आश्रित है, इसमें दोष किसी का नहीं है। जिसका जैसा स्वभाव होता है, उसे वही चीज अच्छी लगती है। सत्काव्य के अध्ययन और चिन्तन से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों वर्गों के फलों की प्राप्ति होती है। कहा भी गया है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षणयं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥

—साहित्य व. प्र. प.

सत्काव्य धर्मात्मा और विचारशील व्यक्तियों के लिये इसीलिये आनन्ददायक होता है कि उसके अध्ययन से रत्नत्रय की प्राप्ति की जा सकती है। जो काव्य मोह को घटाता है तथा संसार के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान कराता है, वही सत्काव्य माना जा सकेगा। अज्ञानवश इस जीव को संसार का मनमोहक रूप, जो

भीतर से बहुत ही भयावना है, प्रिय लगता है। यह कठिनता से प्राप्त हुई मानव पर्याय को यों ही विषयों में बिता देता है। लक्ष्मी, यौवन, स्त्री, पुत्र, परिजन सभी क्षणभंगुर हैं, विनाशीक हैं। जीव का इनके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, जीव अकेला ही अपने शुभ-अशुभ भावों का कर्त्ता तथा उनके उत्पन्न फल का भोक्ता है। क्षणिक ऐश्वर्य को प्राप्त कर अभिमान में आकर भले ही अपने को सर्वगुण और समर्थ यह जीव समझे, किन्तु जब तक कर्मों का सम्बन्ध है, तब तक उसका यह समझना अज्ञानता का सूचक है। यद्यपि ज्ञानी जीव अपने को शक्ति की अपेक्षा से शुद्ध, बुद्ध, निष्कलंक, अखण्ड ज्ञानादि गुणों का धारी समझता है, फिर भी कर्म बन्धन की अपेक्षा उसे संसार की माया से लिप्त होना पड़ता है। सत्काव्य द्वारा जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान होता है, वह हेयोपादेय को समझता है तथा जीव, कर्म और इनके सम्बन्ध को समझ कर अपने उद्धार मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है।

आत्म-कल्याणेच्छुक व्यक्ति इसीलिये शास्त्र स्वाध्याय में अपना विशेष समय लगाते हैं जिससे आत्मशुद्धि और भाव की शुद्धि प्राप्त होने के साथ करणलब्धि को प्राप्त कर सकें, स्वाध्याय में मन के एकाग्र होने से परिणामों में विशेष विशुद्धि आती है, चंचल मन स्थिर होता है, संसार से विरक्ति होती है और रागद्वेष की प्रवृत्ति घट जाती है। जो व्यक्ति सच्चे शास्त्रों का स्वाध्याय करते हैं, वे अज्ञानान्धकार को दूर कर स्वानुभूति को प्राप्त कर लेते हैं। भेद विज्ञान रूपी सूर्य का उदय उनके हृदय में हो जाता है और समय आने पर वे निर्वाण लाभ कर लेते हैं मिथ्यादृष्टियों को सत्काव्य के अध्ययन में उनका मिथ्यात्व ही बाधक होता है। जिस प्रकार पित्तज्वर वाले को दूध कडुवा लगता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियों को सत्काव्य अच्छे नहीं लगते।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण

जिस प्रकार सुन्दर ढंग से रखी गयी मिट्टी के बर्तनों की पंक्ति विवेकी पुरुषों को श्रेष्ठ प्रतीत होती है, किन्तु कुत्ते उस पंक्ति को देखकर भौंकने लगते हैं तथा उसे फोड़ डालते हैं।।47।।

जिस प्रकार गन्ना—इक्षुदण्ड जब तक नम्रीभूत-नीचे को झुका हुआ रहता है, कृषक पानी का सिंचन कर उसका पोषण करते हैं, किन्तु जब वही घमण्ड से उन्नत हो जाता है तो कृषक उसे काट डालते हैं। इसी प्रकार कविता करते हुए सत्कवि विनयशील और पूज्य एवं कुकवि उद्दण्ड और दण्डनीय होते हैं।।48।।

विवेचन—नम्रता मनुष्य का गुण है और अहंकार दोष। अहंकार और ममकार ही इस जीव की अवनति के कारण हैं। जब कोई भी जीव अपने स्वरूप को भूलकर पर में आत्म-बुद्धि ग्रहण करता है तब अहंकार और ममकार की भावना जाग्रत होती है। यह परबुद्धि जितनी अधिक बढ़ती जाती है, अहंकार की भावना भी उतनी ही तेज होती जाती है। सत्कवि नम्रता को धारण करते हैं, वे स्वयं सम्यग्दृष्टि होते हैं तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का पालन करते हुए अपने विशेष ज्ञान द्वारा काव्य का निर्माण करते हैं। इनके द्वारा रचे गये काव्य रत्नत्रय की प्राप्ति में सहायक होते हैं। प्राय: सर्वश्रेष्ठ शास्त्र निर्माता विषय-वासना से रहित, आरम्भपरिग्रह के त्यागी और ज्ञानी ध्यानी होते हैं। ऐसे व्यक्तियों के द्वारा रचे गये शास्त्र ही आत्म कल्याण करने में सहायक हो सकते हैं।

संसार में वे ही सत्कवि पूज्य हो सकते हैं, जो संयमी, विनयी, ज्ञानी और चारित्रवान् होते हैं। इन्हीं के द्वारा रचित शास्त्रों से मानव समाज का कल्याण हो सकता है। साहित्य के नाम पर कल्याण से च्युत करने वाली चीजें या रचनायें समाज में कभी भी चिरकाल तक आदर को प्राप्त नहीं हो सकतीं। ऐसी रचनाओं से चारित्र उत्तरोत्तर बिगड़ता है जिससे अनीति और भ्रष्टाचार का बीजारोपण होता है।

वास्तविक बात यह है कि प्रत्येक समझदार व्यक्ति इस संसार की असारता को देखकर विचलित हो जाता है; और आत्मा, उसकी खराबियों के निदान और उनको दूर करने के उपाय अवगत करना चाहता है। जो काव्य-शास्त्र उसकी इस जिज्ञासा को पूर्ण करने में समर्थ होते हैं, उन्हें वह चाव से पढ़ता है तथा अपने आत्मशोधन में प्रवृत्त होता है।

सच्चे शास्त्र बतलाते हैं कि राग भाव ही संसार में दुःख का कारण है, जब तक हमारी रागरूप प्रवृत्ति रहती है तब तक इष्टानिष्ट रूप में वस्तुएं दिखलायी पड़ती हैं। हम अपने राग के कारण ही पदार्थों को अच्छा या बुरा समझते हैं, रागभाव के दूर होते ही पदार्थों में समता बुद्धि हो जाती है तथा हमें प्रतीत होने लगता है कि संसार के पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं, आत्मा का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं और न उनका आत्मा से कोई सम्बन्ध है; क्योंकि वे पर हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य के अतिरिक्त अन्य पदार्थ जिनका प्रतिक्षण अनुभव होता है; वे आत्मा से सर्वथा जुदे हैं। स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि में जो अपनत्त्व की प्रतीति हो रही है, वह मिथ्या है। जब तक इन पदार्थों को हम अपने समझते हैं, तब तक हमें दुःख झेलना पड़ता है, अपनी स्वरूपोपलब्धि से वंचित होना पड़ता है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को सत्कवियों एवं आचार्यों के द्वारा निर्मित काव्य-शास्त्रों का ही अध्ययन, मनन और चिन्तन करना चाहिये।

असत्काव्य की अग्राहकता

जिस प्रकार बिना नमक या चीनी के बढ़िया चावलों के भात में पर्याप्त घी डाल देने पर भी स्वाद नहीं आता है, उसी प्रकार कुकवियों के द्वारा बनाया गया सरस काव्य भी कल्याणकारी नहीं हो सकता ॥49॥

विवेचन—सत्काव्य की एकमात्र कसौटी रत्नत्रय की प्राप्ति में सहायक होना है। साहित्य शास्त्र के लक्षण प्रणेताओं ने यद्यपि रमणीय अर्थ के निरूपण करने वाले वाक्यों को काव्य कहा है तथा और भी अनेक ध्वनि, अलंकार व्याजोक्ति आदि को प्राधान्य देकर लक्षण बताये हैं, पर वास्तव में काव्य का लक्षण यही है कि जिस रचना में पूर्वापर विरोध न हो और जो रत्नत्रय की वृद्धि में सहायक हो। कुकवि सरस काव्य का निर्माण कर सकते हैं, श्रृंगार रस का अच्छा वर्णन कर पाठकों के हृदय में वासना को उभार सकते हैं, पर उनके काव्य से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता है। आचार्य नयसेन ने उपर्युक्त पद्य में कुकवि और सुकवि की इसी विशेषता का प्रदर्शन किया है।

जो भक्तिभाव से प्रतिदिन भगवान् का स्मरण करता है तथा प्रतिदिन सत्कार्यों को करता है, ऐसे पुण्यात्मा पुरुषों की कथाओं को कहने और सुनने से कितने कर्मों की निर्जरा होगी, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता है ॥50॥

विवेचन—प्रत्येक गृहस्थ के दैनिक षट्कर्म हैं—देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान देना। जो व्यक्ति गृहस्थावस्था में रहकर अपने इन दैनिक षट्कर्मों का आचरण करता है तथा मूलगुण और उत्तरगुणों का यथार्थ पालन करता है, वह गृहस्थ मुनिधर्म को धारण करने की पृष्ठभूमि तैयार कर लेता है। ऐसा व्यक्ति अवसर मिलते ही मुनिधर्म को ग्रहण कर लेता है और अपने आत्मकल्याण में प्रवृत्त हो जाता है। मुनिधर्म का यथार्थ पालन करता हुआ निर्वाण लाभ करता है। इस प्रकार के पुण्यात्मा जीवों की कथाएं कहने और सुनने से कर्मों की निर्जरा होती है, आत्मा निर्मल हो जाती है तथा धर्म-पालने के लिये प्रेरणा मिलती है। महापुरुषों के जीवन चरित्र पढ़ने से बड़ा भारी लाभ होता है। साधारण व्यक्ति भी ऐसे चरित्रों के अध्ययन से आत्मकल्याण की बहुत सी बातें जान सकता है।

जिन्हें गृहस्थावस्था में रहकर आत्म-कल्याण करना है, उन्हें कम से कम तीन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये—भगवान् की पूजा करना, शास्त्र स्वाध्याय करना और सामायिक करना। इन तीनों कार्यों को करने वाला व्यक्ति अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को सदा समझता रहेगा, जिससे वह विपरीत मार्ग की ओर नहीं जायेगा। भगवान् की पूजा-पाप, दुःख, संकट, रोग आदि को दूर करती हैं, जीव की भावनाओं को शुद्ध करती है। यह उपासना दीनताभरी याचना या खुशामद नहीं होती है। यह तो शुद्धात्मानुभूति के गौरव से ओत-प्रोत रहती है, दीनता, क्षुद्रता और स्वार्थपरता को जिन पूजा में स्थान नहीं है। पूजा करने से कषायें मन्द होती हैं और साधक को दृढ़ आत्मास्था उत्पन्न होती है जिसके बल से वह आगे अच्छा कार्य कर सकता है। इसी प्रकार स्वाध्याय से सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की वृद्धि होती है, जिससे वह कुपथ पर नहीं जाता। सामायिक करने से कोई भी व्यक्ति अपने आत्म स्वरूप को पहचान सकता है। मोह, माया और राग-द्वेष के फन्दे से अपने को बचा सकता है। एकान्त स्थान में आत्मालोचना करने तथा शुद्ध आत्मस्वरूप

का चिन्तन करने से आत्मा में बड़ी भारी शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को उक्त तीनों नियमों का पालन करना चाहिये।

ग्रन्थकार की लघुता और गुरु का वन्दन

जिनमत रूपी समुद्र से सारांश लेकर इस ग्रन्थ का निर्माण किया जा रहा है, इसके निर्माण में मेरी कोई विशेषता नहीं है ॥51॥

आगम रूपी समुद्र के पारगामी, त्रिलोक में वन्दनीय, पञ्चपरमेष्ठी के आराधक, ज्ञान-ध्यान में लीन, जैन मुनिपुंगव श्री नरेन्द्रसेन गुरुदेव को नमस्कार करता हूँ, जो कि शिष्यों के लिये बन्धु के समान कृपालु हैं।॥52॥

स्थिर वचन कहने वाले, व्रतों से विभूषित, समस्त संसार को पवित्र करने वाले, राज्य से पूज्य, जैनधर्म का उद्योत करने के लिये सूर्य के समान तेजस्वी, सरस्वती के भूषण तीनों लोकों से पूज्य, जिनेन्द्र भगवान् के चरणों में भ्रमर की तरह आसक्त एवं सुकवियों के मनरूपी तालाब के लिये राजहंस के समान हैं ॥53॥

विवेचन—यह धर्मामृत पूर्वाचार्यों के द्वारा रचित ग्रन्थों के आधार पर ही लिखा जा रहा है। इसमें कवि ने अपनी ओर से कोई नयी बात नहीं जोड़ी है, बल्कि प्राचीन आचार्यों के वचनामृत को 'नद्या नवघटे जलम्' के समान एकत्रित कर श्रृंखलाबद्ध कर दिया है, यदि कोई छद्मस्थ अपनी ओर से किसी नवीन शास्त्र का सृजन करना चाहे तो वह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित शास्त्र ही प्रमाण होते हैं।

ग्रन्थ का निर्माण करते समय अपने गुरु का स्मरण करना भी आवश्यक होता है। गुरु के स्मरण करने से उपकार स्मरण की परिपाटी अक्षुण्ण रहती है तथा आगे की शिष्य परम्परा को उत्साह मिलता है। ग्रन्थकार ने इसी कारण मंगलाचरण करने के उपरान्त अपने गुरु नरेन्द्रसेन का स्मरण किया है तथा उनके ज्ञान भण्डार की प्रशंसा की है। पूज्य आचार्य श्री नरेन्द्रसेन वास्तव में जैन शास्त्र के बड़े भारी

पारगामी थे। इनका संस्कृत, प्राकृत और कन्नड़ भाषा पर भी पूरा अधिकार था। काव्य रचने में भी निपुण थे।

आचार्य नयसेन ने आचार्य नरेन्द्रसेन से दीक्षा भी ली थी और शास्त्रों का अध्ययन भी किया था तथा इनकी परम कृपा भी ग्रन्थ-कर्त्ता के ऊपर थी। यों तो आचार्य श्री नरेन्द्रसेन सभी शिष्यों से स्नेह करते थे, पर विशेषत: वे नयसेन आचार्य से अधिक प्रेम करते थे। आचार्य नयसेन ने भी उपलब्ध समस्त जैन शास्त्रों का अध्ययन कर श्रावकधर्म के निरूपण करने वाले धर्मामृत नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है ॥53 ॥

कवि का परिचय

श्रेष्ठ शील गुण से युक्त, अत्यधिक गुणों से परिपूर्ण सभी भव्यों के मन को आह्लादित करने वाला मैं नयसेन नामक बुद्धिमान कवियों के समूह में कोयल के समान हूँ ॥54 ॥

जिनेन्द्र वचनामृत को, जो कि समस्त प्राणियों का हित करने वाला है तथा जो समस्त भव्य जीवों का आत्मोद्धार करने वाला है; मैं ऐसे धर्मामृत को कहता हूँ ॥55 ॥

धर्मामृत की विशेषता

यह इन्द्रपदवी को देने वाला और मोक्ष लक्ष्मी के वैभव को प्राप्त कराने में सहायक है। यह मिथ्यात्वरूपी मदोन्मत्त हाथी को नष्ट करने के लिये सिंह के समान समर्थ है। निर्मल सुख और अभ्युदय को देने वाला है तथा विपुलाचल पर श्री वीर प्रभु के मुख से निसृत है एवं देव, दानव और अमरेन्द्र द्वारा स्तुत्य यह धर्मामृत है ॥5 ॥

जिनेन्द्र भगवान् की समवशरण सभा में जिसमें सभी जीव शान्ति और प्रेम पूर्वक उपदेश श्रवण करते हैं तथा जिस सभा में किसी भी प्रकार का भेद भाव

नहीं रहता; राजा श्रेणिक के भावानुसार भगवान् के मुख से इस धर्मामृत का उपदेश हुआ है ॥57॥

एक दिन विपुलाचल पर्वत पर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी का समवशरण आया। चतुर्विधसंघ सहित समवशरण के आने से असमय में ही षड्ऋतु के फल फूल उत्पन्न हो गये। वनमाली इन आश्चर्यकारक फल पुष्पों को देखकर प्रसन्न हुआ और उन्हें तोड़कर महाराज श्रेणिक को भेंट करने के लिये चला। राज दरबार में पहुँचकर हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया तथा फल पुष्प भेंट कर कहने लगा—"हे महाराज! विपुलाचल पर जगत हितकारी वर्द्धमान स्वामी का समवशरण आया है, इसी से असमय में सभी ऋतुओं के फल-पुष्प एक साथ विकसित हो गये हैं।" राजा वनमाली के इन आनन्दकारी वचनों को सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और सिंहासन से उतर कर सात पग आगे जाकर परोक्ष नमस्कार किया तथा आनन्ददायक समाचार सुनाने के उपलक्ष में वनमाली को यथेष्ट पुरस्कार दिया।

तत्पश्चात् राजा ने नगर में आनन्द भेरी बजवा दी जिसे सुनकर सभी पुरजन, परिजन एकत्रित हो गये। राजा श्रेणिक ने सभी को अष्ट द्रव्य सहित-जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल सहित भगवान् की पूजा के लिये चलने का आदेश दिया। राजा ने स्वयं रानी चेलना सहित पट्टवर्धन हाथी पर सवार होकर विपुलाचल पर्वत की ओर प्रस्थान किया।

पर्वत के निकट पहुँचकर राजा श्रेणिक ने अपने राजकीय चिह्नों को वहीं छोड़ दिया और अष्ट द्रव्यों से भगवान् की पूजा की। पश्चात् हाथ जोड़कर त्रैलोक्यनाथ के समक्ष स्तुति करने लगा—

यत्पादाब्जरजः पवित्रशशभृच्छुभ्रच्छिलासञ्चयो
विख्यातो विपुलाचलः सुरशिरो वन्द्योऽभवत्तीर्थराट्।
सश्रीमानमरेन्द्रपूजितपदः कैवल्य सम्पल्लसन्
वीरो भव्यजनैकबन्धुरनिशं पूयाज्जगन्मानसम् ॥1॥
यो रत्नत्रयभूषितोऽपि रुचिरालङ्कारभारोज्झितोऽ
नेकान्तप्रतिपादकोऽपि नितरामेकान्तयोगे रतः।

निर्वासा अपि चांबराम्बरलसत्कायोऽद्भुतः सर्वविन्
नश्चेतोनिलयं निलीयलसतान्नित्यं स वीरप्रभुः ॥2 ॥
समीरो ध्यानाग्नेरुदधिरिव धीरोऽमृतगिरः
किरः कीरो हीरोज्ज्वलमुनिमनः पञ्जररतः।
निधीरोचिष्णूनां गुणमणिगणानामभयदो
महावीरो भीरो मम भवगभीरोदधिभिया॥3 ॥
अज्ञानावृत्तलोचनोऽस्मि भगवन्! नालोक्यते सत्पथो
मुक्तिर्दूरतरस्थितातिविषमा भूर्वर्तते सर्वतः।
नेता कश्चिदवञ्चको न जगति श्रेयस्करो दृश्यते
तत्वामेव समाश्रितोऽस्मि हितकृन्नान्योऽत्र कश्चिन्मम॥4 ॥
नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं महात्मने।
वचः प्रसून मालाभिरित्यानर्च गिरांवतिम्॥5 ॥
त्वं जिनः कामजिज्जेता त्वमर्हन्नरिहासहः।
धर्मध्वजो धर्मपतिः कर्मावि निशुंभनः॥6 ॥
त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिकसत्त्वाशयप्रणामामहितः।
लोकत्रयपरमहितोऽनावरणज्योतिरुज्वलद्धामहितः॥7 ॥

इस प्रकार भगवान् महावीर स्वामी की स्तुति कर और गौतम गणधर को नमस्कार कर राजा श्रेणिक मनुष्यों के कोठे में बैठ कर गौतम स्वामी से प्रश्न पूछने लगा—

हे मुने! नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चारों गतियों में जन्म मरण का निरन्तर दुःख उठाता हुआ यह जीव शान्ति लाभ कैसे कर सकता है? बतलाने की महती कृपा कीजिये।

देव जिनकी स्तुति में सर्वदा तत्पर रहते हैं, जिनका दिव्य शरीर है और जिनके दातों की कान्ति सर्वत्र व्याप्त है तथा भव्यों द्वारा सर्वदा वन्दनीय हैं, ऐसे गौतम गणधर समुद्र के समान गम्भीर तीर्थंकर प्रभु के मुख से निकली हुई दिव्य वाणी की व्याख्या करते हुए कहने लगे—

राजन्! आपने जो प्रश्न किया है, वह बहुत उत्तम है। चारों गतियों के जन्म मरण का दु:ख सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना दूर नहीं हो सकता। यह सँम्यग्दर्शन ही सांसारिक दु:खों से छुड़ाकर मोक्षरूपी सुख को दे सकता है। इसकी प्राप्ति करणलब्धि के बिना नहीं हो सकती। करणलब्धि के बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मानना इस प्रकार असंभव है जैसे आंखों के बिना देखना, कानों के बिना सुनना, खेत के अभाव में धान की उत्पत्ति, स्त्री के बिना पुत्र की उत्पत्ति, बुद्धि के बिना न्याय, दीवाल या अन्य किसी आलम्बन बिना चित्र का खींचना, जल बिना रसोई बनाना, बाण बिना धनुष चलाना, पानी बिना तालाब बनाना, पैर बिना चलना, तैरना जाने बिना समुद्र पार करना, सम्पत्ति बिना मनोरंजन की सामग्री खरीदना एवं रसना बिना बोलना असंभव है। अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करणलब्धि के होने पर ही होती है। देवेन्द्रपद, चक्रवर्तीपद एवं निर्वाणपद की प्राप्ति इसके बिना नहीं हो सकती है। यह सम्यग्दर्शन ही समस्त सुखों का देने वाला है, दु:ख-दारिद्र्य का नाश करने वाला है तथा इसके प्राप्त हो जाने पर जीव को निर्वाण कभी न कभी मिल ही जाता है।

श्रेणिक-प्रभो! सम्यग्दर्शन का स्वरूप क्या है, उसके धारण करने की विधि क्या है और धारण करने से फल क्या होता है?

गौतम गणधर—राजन्! "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं"—"तत्त्वशब्दो भाव सामान्यवाची। कथम्? तदिति सर्वनामपदम्। सर्वनाम च सामान्ये वर्तते। तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्य कस्य? योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थ: अर्यति इत्यर्थो निश्चीयत इत्यर्थ:। तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थ:। अथवा भावेन भाववतोऽभिधानं तदव्यतिरेकात्। तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थ:। तत्त्वार्थस्य श्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानं, सम्यग्दर्शनं प्रत्येतव्यम्। तत्त्वार्थश्च वक्ष्यमाणो जीवादि:। दृशेरालोकार्थत्वात् श्रद्धानार्थगतिर्नोपपद्यते? धातूनामनेकार्थत्वाददोष:। प्रसिद्धार्थत्याग: कुत इतिचेन्मोक्षमार्गप्रकरणात्, तत्त्वार्थश्रद्धानं ह्यात्मपरिणामो मोक्षस्य साधनं युज्यते, भव्यजीवविषयत्वात्। आलोकस्तु चक्षुरादिनिमित्त: सर्वसंसारिजीवसाधारणत्वान्न मोक्षमार्गो युक्त:। अर्थश्रद्धानमितिचेत्सर्वार्थग्रहणप्रसङ्ग:। तत्त्वश्रद्धानमिति चेद्भावमात्रप्रसङ्ग:। सत्ताद्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादि तत्त्वमिति

कैश्चित्कल्प्यत इति। तत्त्वमेकत्त्वमिति वा सर्वैक्यग्रहणप्रसङ्गः। पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि कैश्चित्कल्प्यत इति। तस्मादव्यभिचारार्थमुभयोरुपादानम्। तत् द्विविधं, सरागवीरतरागविषयभेदात्। प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्। आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्।''

अभिप्राय यह है कि जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का विपरीताभिनिवेश रहित और प्रमाणनयादि के विचार सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन आत्मा का निर्विकल्प गुण है। मोहनीय कर्म के उदय ने इसे दूषित कर दिया है। जब अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यक् और सम्यग्मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाता है तब सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। यह आत्मा में रहता है, पर मोहनीय कर्म इसे आच्छादित रखता है। मोहनीय के हटते ही इस गुण की प्राप्ति हो जाती है।

संसार और भोगों से विरक्त होने पर ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। सम्यग्दृष्टि अपने को सदा अकेला ही समझता है और समस्त कर्म विकार से अपनी आत्मा को भिन्न, शुद्ध और चैतन्य स्वरूप समझता है। यह आत्मलोक को ही वास्तव और नित्य समझता है, अतः इसलोक भय, परलोक भय, वेदना भय, अरक्षा भय, अगुप्ति भय, मरण भय एवं आकस्मिक भय इन सातों भयों से रहित निर्भय होता है। आत्मिक दृढ़ आस्था के बिना कोई भी व्यक्ति निर्भय नहीं हो सकता है। सम्यग्दृष्टि बिल्कुल निर्भय रहता है, वह आत्मा को समस्त पदार्थों से भिन्न समझता हुआ अपने कल्याण में प्रवृत्त होता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की एक ही विधि है, वह है संसार भोगों से विरक्त होकर अखण्ड एवं अनन्त गुणों के समुदाय आत्मा की आस्था करना। यही आस्था प्राणियों को आगे का मार्ग दिखलाती है तथा इसी के द्वारा जीव अपना कल्याण मार्ग प्राप्त करते हैं। इस सम्यग्दर्शन की बड़ी भारी महिमा है, यह जिसको प्राप्त हो जाता है, वह प्रथम नरक को छोड़ शेष छः नरकों में, तिर्यंचों में, स्त्रियों में,

भवनवासी-व्यन्तर-ज्योतिषी देवों में एवं दरिद्र कुल में जन्म नहीं लेता है। शरीर भी स्वस्थ और दिव्य होता है।

जैसे वीरता बिना सैनिक, नाक के बिना सुन्दर मुख, मुद्रिका के बिना अंगुली, सुन्दर अंगुलियों के बिना हाथ, तैल बिना दीपक अपना काम सुचारुरूप से नहीं कर सकता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन धारण किये बिना धर्म का पालन नहीं हो सकता।

जैसे सामर्थ्य बिना सुन्दर शरीर, दरवाजे बिना सुन्दर महल तथा चाहरदीवारी के बिना बगीचा या दुर्ग सुरक्षित और सुव्यवस्थित नहीं माने जाते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना धर्म व्यवस्थित नहीं माना जा सकता है।

वरांगना बिना राजसभा, सुन्दर और स्वस्थ पुत्र बिना घर, पूर्ण जल के बिना कूप, दुर्ग के बिना राजधानी, श्रद्धा बिना पूजा, पति के विश्वास बिना स्त्री, सत्य और दया बिना धर्म जैसे शोभित नहीं होते, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना मानव शोभित. नहीं होता है, इसके बिना जप-तप करना सब व्यर्थ है।

जैसे गन्ध बिना घी का स्वाद, प्रेम बिना प्रभुत्व, मोह बिना संसार, भक्ति बिना स्तुति, शक्ति बिना युद्ध, धन बिना वैभव, नगर बिना राजा, फल बिना बगीचा, कुलीनता बिना महिमा, रास्ता बिना गमन, घी बिना भोजन, अग्नि बिना रसोई शाला, विश्वास बिना सेवा, सौन्दर्य बिना नारी, दया बिना आचार, सामान बिना दुकान, पति बिना सती, मद बिना हाथी, जल बिना गांव एवं विवेक बिना तप शोभित नहीं होते उसी प्रकार सम्यग्दर्शन बिना जप-तप-दान शोभा को प्राप्त नहीं होते।

जैसे धर्म बिना राजा, भोजन बिना शरीर, वस्त्र बिना आभूषण, सौन्दर्य बिना युवावस्था, कमल बिना तालाब, धान बिना खेत, सेना बिना राजा अपनी स्थिति संसार में सम्यक्प्रकार कायम नहीं रख सकते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना आत्मकल्याण संभव नहीं।

रहट के समान अनादिकाल से चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए इस जीव को केवल सम्यग्दर्शन ही दुःख से छुड़ा सकता है।

सम्यग्दर्शन के अष्टाङ्गों का पालन करना उतना ही आवश्यक है जितना वृक्ष का अस्तित्व कायम रखने के लिये वृक्ष की शाखाओं का होना एवं शरीर का अस्तित्व कायम रखने के लिये शरीर के अवयवों का होना। अष्टाङ्गों के बिना सम्यग्दर्शन का पालन यथार्थरूप से नहीं हो सकता है।

निःशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और धर्मप्रभावना इन अष्टांगों सहित सम्यग्दर्शन को धारण करना चाहिये तथा पञ्चाणुव्रतों का पालन करना भी आवश्यक है।

पञ्चरत्न कौन से हैं? अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाणव्रत ये पांच अणुव्रत ही पञ्चरत्न हैं।

चौदह रत्न कौन से हैं? क्या ये पांच रत्न भी उनमें शामिल हैं?

सम्यग्दर्शन, अष्टाङ्ग और पंचाणुव्रत ये चौदह मिलकर चौदह रत्न कहलाते हैं। पंचाणुव्रतरूपी पांच रत्न भी इन्हीं में शामिल हैं। जो दृढ़तापूर्वक इन चौदह रत्नों को धारण करता है वह निस्सन्देह अभ्रान्त सुख को प्राप्त करता है।

जो व्यक्ति उपर्युक्त चौदह रत्नों का सम्यक्प्रकार से पालन करते हैं, उनकी महिमा का वर्णन करना संभव नहीं, उन्हें मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति हो जाना भी असंभव नहीं है। अर्थात् थोड़े दिनों की साधना के पश्चात् मोक्षलक्ष्मी इन्हें प्राप्त हो जाती है।

गौतम गणधर की इन बातों को सुनकर मगध सम्राट श्रेणिक बहुत प्रसन्न हुआ और भक्तिपूर्वक नमस्कार कर कहने लगा—हे स्वामिन्! मेरी इच्छा इन चौदह रत्नों को धारण करने वालों के चरित्र के जानने की है। जिन महापुरुषों ने इन रत्नों को धारण कर निर्वाण प्राप्त किया है, कृपया उनकी कथा कहिये।

गौतम गणधर मधुर और गम्भीर वाणी में उत्तर देने लगे—

मध्यलोक में जम्बूवृक्ष से उपलक्षित एक लाख योजन के विस्तारवाला जम्बू नाम का द्वीप है, इसके मध्य में नाभि के समान् सुमेरु पर्वत शोभित होता है। इस जम्बूद्वीप की परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठाईस धनुष साढ़े तेरह अंगुल है। इस जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं तथा इन सात क्षेत्रों का विभाग करने वाले पूर्व से पश्चिम तक लम्बे हिमवत् महाहिमवत्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरिन् ये छः पर्वत हैं।

इन पर्वतों के ऊपर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिंच्छ, केशरिन्, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नाम के सरोवर हैं। पद्म तालाब एक हजार योजन लम्बा, पांच सौ योजन चौड़ा और दस योजन गहरा है। इसमें एक योजन का कमल है, इस कमल पर श्री नाम की देवी सामानिक और परिषद् जाति के देवों के साथ निवास करती है। महापद्म नाम का तालाब दो हजार योजन लम्बा, एक हजार योजन चौड़ा और बीस योजन गहरा है। इसमें दो योजन विस्तार का कमल है, जिस पर ही नाम की देवी निवास करती है। तिगिंच्छ तालाब चार हजार योजन लम्बा, दो हजार योजन चौड़ा और चालीस योजन गहरा है इसमें चार योजन विस्तार का कमल है, इस पर धृति नाम की देवी निवास करती है। केशरी तालाब चार हजार योजन लम्बा, दो हजार योजन चौड़ा और चालीस योजन गहरा है। इसमें चार योजन विस्तार का कमल है इस पर कीर्ति नाम की देवी निवास करती है। महापुण्डरीक नामक तालाब दो हजार योजन लम्बा, एक हजार योजन चौड़ा और बीस योजन गहरा है, इसमें दो योजन विस्तार का कमल है, इस पर बुद्धि नाम की देवी रहती है। पुण्डरीक नामक तालाब एक हजार योजन लम्बा, पांच सौ योजन चौड़ा और दस योजन गहरा है, इसमें एक योजन विस्तार का कमल है, इस पर लक्ष्मी नाम की देवी निवास करती है। इन सभी कमलों पर निवास करने वाली देवियों की आयु एक पल्य की होती है।

जम्बूद्वीप के सातों के सातों क्षेत्रों में गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित्-हरिकांता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला एवं रक्ता-रक्तोदा ये चौदह नदियां प्रवाहित होती है। गंगा-सिन्धु की सहायक नदियां चौदह हजार, रोहित-रोहितास्या की अट्टाइस हजार, हरित्-हरिकान्ता की छप्पन हजार, सीता-सीतोदा की एक लाख बारह हजार, नारी-नरकान्ता की छप्पन हजार, सुवर्णकूला-रूप्यकूला की अट्ठाइस हजार एवं रक्ता-रक्तोदा की चौदह हजार हैं।

भरत क्षेत्र का विस्तार $526\frac{6}{19}$ योजन, हिमवत् पर्वत का $1052\frac{12}{19}$ योजन, हैमवत् क्षेत्र का $2105\frac{5}{19}$ योजन, महाहिमनकुलाचल का $4210\frac{10}{19}$ योजन, हरिक्षेत्र का $8421\frac{1}{19}$ योजन, निषध कुलाचल का $6842\frac{1}{19}$ योजन, विदेह क्षेत्र का $33684\frac{4}{19}$ योजन, नीलकुलाचल का $16842\frac{2}{19}$ योजन, रम्यकक्षेत्र का $8421\frac{1}{19}$ योजन, रुक्मि कुलाचल का $4210\frac{10}{19}$ योजन, हैरण्वतक्षेत्र का $2105\frac{5}{19}$ योजन, शिखरिन् कुलाचल का $1052\frac{16}{19}$ योजन एवं ऐरावतक्षेत्र का $526\frac{6}{19}$ योजन है।

इस जम्बूद्वीप के भरत और ऐरावत क्षेत्रों में समय के प्रभाव से आयु, विद्या, बुद्धि, शरीर आदि की उन्नति अवनति होती रहती है। भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र में कर्मभूमि की व्यवस्था है। भरत और ऐरावत क्षेत्र में चतुर्थकाल में ही तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं परन्तु विदेह में सर्वदा बीस तीर्थंकर वर्तमान रहते हैं। भरत क्षेत्र नाना प्रकार के वन, उपवन, नदी, नाले, सरोवर आदि से सम्पन्न हैं, इसमें भव्य जीव निवास करते हैं, जो अपने पुरुषार्थ से कर्मों की निर्जरा कर निर्वाण लाभ करते हैं।

सम्यक्त्व की महिमा

इस भरतक्षेत्र में सौराष्ट्र नाम का देश है, जो जिनमन्दिर, वाटिका, तालाब,

धन, धान्य आदि से परिपूर्ण है। इस सुन्दर हरे-भरे देश में कुबेर की नगरी के तुल्य गिरि नाम का नगर है। यह नगर धर्मात्मा जनों का निवासस्थान है, इसमें सभी लोग सुखी निरोग और धनिक हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांचों पाप इससे सदा दूर रहते हैं। इस नगर का शासक महामंडलीक राजा था। इस नगर में निर्मल सम्यग्दर्शन का धारी, कुबेर के समान धनिक दयामित्र नाम का नगर सेठ रहता था। वह ऐश्वर्य में कुबेर के समान, भोग भोगने में इन्द्र के तुल्य, उदार गुणों का धारी, याचकों के लिये कल्पवृक्ष के समान था।

दयामित्र सेठ अपरिमित ऐश्वर्य का धारी होकर भी भगवान् की भक्ति शास्त्रस्वाध्याय सुपात्रों को दान एवं आत्मचिन्तन आदि गुणों में सदा लीन रहता था।

एक दिन एकाएक इस सेठ के मन में विचार आया कि मनुष्य को सम्पत्ति के होने पर यह पर्याप्त है ऐसा सोच कर पुरुषार्थ को नहीं छोड़ना चाहिये बल्कि उत्तरोत्तर पुरुषार्थ करते हुये धनवृद्धि करना चाहिये, जिससे लौकिक और धार्मिक कार्यों का सम्पादन सुचारुरूप से किया जा सके। क्योंकि लोक में धन से ही शक्ति प्राप्त होती है, धन से ही सम्मान मिलता है और धन से ही धर्म उपार्जन किया जा सकता है। अतएव मुझे भी व्यापार के लिये विदेश जाना चाहिये। लक्ष्मी की प्राप्ति विदेश में ही हो सकती है, देश में लक्ष्मी का मिलना प्राय: कठिन होता है। इस प्रकार ऊहापोह कर उसने नगर के अन्य व्यापारियों को बुलाया और आदेश दिया कि व्यापार सम्पादन के लिये विदेश चलने का प्रबन्ध शीघ्र करना चाहिये।

अपने पूर्व विचार के अनुसार दयामित्र सेठ ने व्यापारियों के साथ एक शुभ मुहूर्त में गाड़ियों पर अपना सामान लादकर प्रस्थान किया और नगर के बाहर आकर पड़ाव डाला। दोपहर के समय अपने तम्बू के दरवाजे पर बैठे हुए दयामित्र सेठ ने एक ब्राह्मण को अपनी ओर आते देखा, जो माथे पर चन्दन का तिलक, कन्धे में यज्ञोपवीत, हाथ में कुश लिये एवं बगल में कुशासन दबाये हुए था।

दयामित्र सेठ उस ब्राह्मण की इस वेष-भूषा को देखकर तथा वेद और अक्षतों को लिये रहने के कारण उसे धर्मात्मा समझ कर अभिवादन पूर्वक उससे पूछने

लगा कि हे विप्रदेव! आपका नाम क्या है, आप कहाँ से आये हैं, और क्या चाहते हैं?

ब्राह्मण—भो श्रेष्ठिन्! मेरा नाम वसुभूति है, मैं दक्षिण भारत से इधर आया हूँ। उत्तर भारत में प्रख्यात गंगा नदी है, जो सबको साहाय्य प्रदान करती है तथा पवित्र बनाती है। मैं उसी पावन मन्दाकिनी में स्नान करने जा रहा हूँ। मेरे सामने मार्ग सम्बन्धी अनेक कठिनाईयां हैं, रास्ते में भयंकर जंगली जानवर रहते हैं, जो राहगीरों को मार कर खा जाते हैं। चोर और लुटेरों का भी भय है, ये जीते जी पथिकों को जहन्नुम भेज देते हैं। मैं अभी आपके गांव की ओर से आ रहा हूँ, मुझे मालुम हुआ है कि आपने भी उत्तर प्रदेश की ओर व्यापार के निमित्त अनेक साथियों के साथ प्रस्थान किया है। मैंने विचार किया है कि आपके साथ गमन करने से मैं सकुशल गंगाजी तक पहुँच जाऊँगा अत: अब मैं आपकी शरण में हूँ।

दयामित्र सेठ—विप्रदेव! आप निश्चिन्त होकर हमारे साथ चलें, रास्ते में आपको हम किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होने देंगे। आपको समस्त खाद्य पदार्थ एवं अन्य आवश्यक वस्तुएं हमारे व्यापारी संघ से मिल जाया करेंगी। इस प्रकार धैर्य प्रदान कर, उसके भोजन का प्रबन्ध किया तथा अपने अन्य साथियों की भी पूरी व्यवस्था की।

प्रात:काल दयामित्र सेठ ने अपनी स्त्री एवं पुत्रों को बुलाया और उन्होंने समझाना प्रारम्भ किया—''सर्वदा मुनिसंघ को आहार दान, जिनेन्द्र भगवान् के पूजन का प्रबन्ध, चार प्रकार के दान, भव्यों को विभिन्न प्रकार की सहायता, प्रभावना के कार्य, नगर के लोगों की सब प्रकार से सहायता, रोगियों की सेवा, अनाथ-अबलाओं की रक्षा, जब तक मैं वापस लौटूँ मेरे समान ही करते रहना। मेरे घर से कोई भी याचक विमुख न जाय, धार्मिक कार्य सर्वदा होते रहें। पर्वों के अवसर पर विशेष रूप से भगवान् का पूजन, अभिषेक किया जाय।''

दयामित्र सेठ के इस उपदेश को सभी ने सहर्ष हाथ जोड़ कर स्वीकार किया। अन्य नाती, पोते, भाई बन्धु भी उसे प्रणाम, नमस्कार आदि यथायोग्य अभिवादन कर जंगल से वापस नगर में चले गये और उसके उपदेश के अनुसार धर्माचरण पूर्वक दीनदु:खियों की सहायता करने लगे।

सेठ कुछ आगे जाकर बात-चीत के सिलसिले में ब्राह्मण से कहने लगा— भो विप्रदेव! मेरा नियम है कि प्रतिदिन तीन घटी समय-एक घंटा बारह मिनट शास्त्र स्वाध्याय, दर्शन, पूजन, जाप आदि धार्मिक क्रियाओं में व्यतीत करता हूँ। अपनी इन धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करने पर ही भोजन ग्रहण करता हूँ। इसके पश्चात् व्यापार सम्बन्धी कागज-पत्र देखता हूँ और व्यापार करने का आदेश देता हूँ। यहाँ रास्ते में मैं इसीलिये अपने साथ भगवान् की प्रतिमा रखता हूँ, कि पूजन-पाठ यथार्थ रूप से कर सकूँ। जीवन को संयमित और व्यवस्थित बनाना मानव मात्र का कर्त्तव्य है। जिस व्यक्ति के जीवन में संयम नहीं वह व्यक्ति यों ही पशुवत् अपने जीवन को व्यतीत कर देता है। प्रत्येक मनुष्य को अपनी आत्मा की दृढ़ आस्था रख कर अपने स्वरूप को विचारने का प्रयत्न करना चाहिये। यह जीव मिथ्यात्व के कारण ही इस संसार में जन्म मरण के दु:ख उठा रहा है। जब तक इसे आत्म-बोध नहीं होगा, अपना उद्धार नहीं कर सकता है। मैं यह निश्चयपूर्वक जानता हूँ कि ये सांसारिक विभूतियां अस्थिर हैं, क्षणिक हैं, इनका जीव से कोई सम्बन्ध नहीं; फिर भी मोहवश या कर्मों के उदय की प्रधानता होने के कारण यह सब करना पड़ता है। कर्मों का उदय भी कितना विलक्षण है, यह किसी भी जीव को एक क्षण भी शान्ति नहीं लेने देता। नाना प्रकार के आडम्बरजन्य कार्य इस जीव को कर्म की बलबती प्रेरणा से ही करने पड़ते हैं। आप जैसे विद्वान् का साथ प्राप्त कर मुझे प्रसन्नता है, क्योंकि आपके साथ चर्चा-वार्ता करने का अवसर मिलेगा। दर्शनशास्त्र से मुझे बहुत प्रेम है, आत्मा, परमात्मा, जगत् और जगत् के नाना कार्यों पर हम और आप चर्चा कर ज्ञानार्जन करेंगे। इस प्रकार वार्तालाप करते हुए दयामित्र सेठ सुखपूर्वक रास्ता तय करने लगा तथा कुछ दूर जाकर एक रम्यस्थान पर अपना डेरा डाला।

दयामित्र सेठ तथा उसके अन्य साथियों ने नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर भगवान् जिनेन्द्र का अभिषेक, पूजन, स्वाध्याय और जाप आदि क्रियाएं सम्पन्न कीं। वसुभूति ब्राह्मण को दयामित्र सेठ का उपदेश पहले ही अरुचिकर प्रतीत हुआ था वह उसकी इन धार्मिक क्रियाओं को देख कर मन में हंसने लगा तथा अपने विचारों

में डूबता-उतरता सोचने लगा—मालूम होता है कि यह किसी नंगे साधु के बहकावे में आ गया है। श्रमणों ने सर्वत्र इन भोले प्राणियों को ठगने का प्रयत्न किया है। श्रमणों के मारे नाक में दम हो गई, ये जहाँ भी पहुँच जाते हैं, अपना प्रभाव डाले बिना नहीं छोड़ते। न मालूम इन लोगों में कौन-सा जादू विद्यमान है, जिससे ये सर्वत्र अपना प्रभाव डाल लेते हैं।

जिसे सभी प्राणी स्वीकार करते हैं, वह महाधर्म वैदिक धर्म है। जो इस महाधर्म को छोड़कर अन्य धर्मों को मानते हैं, वे कोने में पड़ी हुई छाया के समान व्यर्थ हैं, क्योंकि उनका कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता है। यह सेठ भी महान् धर्म को छोड़ इन श्रमणों के भुलावे में आकर व्यर्थ के धर्म को पालने लगा है। मुझे कोई ऐसा उपाय करना होगा, जिससे इस सेठ से धन भी मिल सके तथा यह जैन धर्म छोड़कर वैदिक धर्म भी स्वीकार कर ले। यह मेरा विश्वास भी करता है तथा मेरा सम्मान भी।

श्रमण लोग कायक्लेश सहन करते हैं, परिश्रम खूब करते हैं, मालूम होता है, इसी कारण इनका समाज पर अद्‌भुत प्रभाव है। जो व्यक्ति बिना परिश्रम के भोजन करता है, उसके दोनों ही लोक बिगड़ जाते हैं। यह सेठ गुरू गुण शून्य इन ढोंगी श्रमणों के चक्कर में पड़ा है।

मछलियों की तरह इधर-उधर भोजन के लिये भ्रमण करने वाले मुनियों को तप की सिद्धि कहां से हो सकती है? यह सेठ व्यर्थ ही इनके वचनों से चलायमान हो गया है। इस प्रकार के निठल्ले नग्न मुनियों को त्रिभुवन के स्वामी कहकर लोग दीप, धूप, फल, नैवेद्य आदि द्रव्यों से नित्य आनन्द पूर्वक अर्चना करते हैं, इनके पैरों को धोकर गन्धोदक लेते हैं? तथा इनके आदेशानुसार दान आदि कार्यों को करते हुए निर्धन हो रहे हैं।

ये श्रमण मुनि कितने मक्कार हैं, ये कुल में कलंक लगाकर, दरिद्री, मलीन बनकर सब को छोड़कर मुनि हो गये हैं। इन्हें नग्न रहने में लज्जा नहीं आती है। क्या ऐसे लोगों से बढ़कर कोई पागल हो सकता है, जो इनकी कुलदेव कहकर

पूजा करता है। इस समय इन श्रमणों के प्रभाव से वैदिक धर्म फीका पड़ गया है, आबालवृद्ध सभी जैनधर्म को स्वीकार करने लगे हैं। अतः मुझे इसके लिये कोई उपाय करना होगा। इस प्रकार नाना तरह से मुनियों की निन्दा करता हुआ भी शान्त नहीं हुआ और आगे सोचने लगा कि मुझे ऐसा उपाय करना होगा, जिससे इसकी सम्पत्ति और बुद्धि व्यर्थ न जाय। मैं जब तक इस सेठ को अपने धर्म में दीक्षित न कर लूँगा तब तक मुझे शान्ति नहीं मिल सकती।

वसुभूति—भो श्रेष्ठिन्! संसार का यह नियम है कि बिना परीक्षा किये किसी भी वस्तु को नहीं ग्रहण करना चाहिये; पर मैं देखता हूँ कि तुमने इस धर्म को बिना सोचे समझे भावुकतावश किसी श्रमण के फेर में पड़कर स्वीकार कर लिया है। मुझे तुम्हारी पूजा-भक्ति देखकर बहुत आश्चर्य हो रहा है। आप जैसे चतुर, परीक्षक, विवेकी, शास्त्रज्ञ विद्वान् भी इस प्रकार के निर्लज्ज नंगे साधुओं की सेवा और भक्ति कर रहे हैं, यह देखकर मुझे बड़ी भारी ग्लानि और लज्जा हो रही है। आप जैसे विवेकी को यह सब शोभा नहीं देता है।

मायाचारी, दूसरे को ठगने वाले, देव कार्य में प्रवृत्ति करने वाले, मलिन नंगे, आचार-विचार शून्य, दरिद्र, बिना श्रम और प्रयत्न किये उदर पोषण करने वाले इन पाखण्डी श्रमणों की भक्ति क्यों करनी चाहिये; आप स्वयं अपने मन में विचार कर देखें?

मलिन, स्नान से रहित निर्ग्रन्थ दातौन न करने वाले, कुल से भ्रष्ट साधुओं को आप मानते हैं। एक बार यदि ठन्डे दिल से आप विचार करेंगे तो आपको समस्त बातें समझ में आ जायेंगी। ये श्रमण बिल्कुल मूर्ख होते हैं, उदरपोषण के लिये ये नाना प्रकार के कष्ट सहन करते हैं, ये बहुत ठग हैं, साथ ही ये जादूगर भी हैं, जो इनके पास गया, वह अवश्य इनसे प्रभावित हुआ। करोड़ों बार समझाने पर भी इनके उपदेश के प्रभाव से किसी को कोई विचलित नहीं कर सकता है। इनके शरीर में कोई शक्ति नहीं, ये काम नहीं कर सकते हैं, मलिन हैं, दरिद्री हैं फिर भी न मालूम आप इनकी स्तुति क्यों करते हैं? आप अपने साथ नग्न प्रतिमा

भी क्यों रखे हैं, क्या आपको सालिकेराम की गोल मूर्ति पसन्द नहीं ? आप चतुर्मुखी ब्रह्मा की मूर्ति अपने पास रखिये, फिर देखिये पूजा में कितना आनन्द आता है।

दयामित्र सेठ वसुभूति की इन पाखण्ड और कुतर्क पूर्ण बातों को सुनकर मन में हंसा और विचारने लगा कि धर्मद्वेष संसार में कितना है; श्रमण लोग निःस्वार्थ, परोपकार एवं जन सेवा की दृष्टि से उपदेश देते हैं तथा उनका उपदेश सोलह आना सच्चाई पर निर्भर है। परीक्षा कर कोई भी उसकी सत्यता को अवगत कर सकता है। न मालूम इन लोगों को श्रमणों से द्वेष क्यों है ? क्यों उनकी इतनी निन्दा करते हैं, समाज के सबसे बड़े हितैषी एवं परोपकारी श्रमण हैं। लोकोपकार एवं सेवा के लिये सदा तत्पर रहते हैं तथा जन सेवा का इतना अधिक कार्य करते हैं, जिससे इनका नाम श्रमण पड़ गया है।

जैसे भिल्ल अकस्मात् जंगल में किसी मणि को प्राप्त कर उसकी श्रेष्ठता को बिना समझे कांच समझ कर फेंक देता है, उसी प्रकार पापी जीव, धर्म, अधर्म की परीक्षा किये बिना ही सच्चे धर्म को खो बैठते हैं। जिन्होंने सच्चे दयामयी धर्म का स्वरूप नहीं समझा है, वे अपनी हठवादिता के कारण झूठे धर्म को ही सब कुछ समझते हैं। इन अल्प बुद्धियों के ऊपर क्रोध नहीं करना चाहिये, बल्कि सहानुभूति और प्रेम के द्वारा इन्हें सच्चे रास्ते पर लाना चाहिये। जैसे उल्लू पक्षी को रात में दिखता है, दिन में नहीं। उसी प्रकार मूर्खों को अधर्म ही अच्छा लगता है, धर्म नहीं।

जिस प्रकार कूप-मंडूक, जिसने कभी समुद्र का दर्शन नहीं किया है, वह कुंए को ही समुद्र समझता है, जिसने कभी सूर्य के प्रकाश का दर्शन नहीं किया, वह उल्लू अन्धेरे को ही सूर्य का प्रकाश समझता है; इसी प्रकार धूर्त व्यक्ति जिसने कभी सत्संगति नहीं की है, वह अधर्म को ही सब कुछ समझता है।

जिसने धतूरा खाया है, उसे मिट्टी, पत्थर और सोना सभी समान मालूम होते हैं। उसी प्रकार कर्म का तीव्रोदय जिनके हैं, उन्हें लौकिक धर्म ही वास्तविक धर्म मालूम पड़ता है। अतएव सद्धर्म पित्तज्वर वाले के लिये दूध जैसा कडुवा लगता

है, वैसे ही मिथ्यादृष्टियों को ख़राब मालूम होता है। अतएव मुझे अपने इस शरणागत का सुधार अवश्य करना होगा, क्योंकि शरणागत की रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति का महान् धर्म है। यद्यपि यह वसुभूति विप्र व्याकरण, साहित्य न्याय, वेदान्त आदि का पारगामी है, पर न मालूम क्यों इसमें मिथ्यात्व समाया है, जिससे यह जैनधर्म की निन्दा करता है। मैं प्रयत्न कर इसे सन्मार्ग में अवश्य लगाऊँगा। यदि एकाएक मैं इसे जैनधर्म का उपदेश दूँ, तो यह मेरे उपदेश को नहीं सुनेगा तथा उस उपदेश का प्रभाव बुरा भी हो सकता है, जैसे बालक के हाथ में अस्त्र दे दिया जाय, तो वह उससे लाभ उठाने के स्थान में हानि ही उठावेगा अथवा बन्दर के गले में जैसे पुष्प माला पहनायी जाय, तो वह उसकी शोभा न बढ़ाकर धूल में मिल ही जाती है। उसी प्रकार इस हठी, मिथ्यात्वी को अभी उपदेश देना लाभ के बदले हानिकर होगा। अत: इसको इस प्रकार उपदेश दूँगा जिससे इसका सब प्रकार कल्याण हो तथा सच्चे धर्म की प्रभावना हो।

बारह दिन तक वसुभूति आनन्दपूर्वक दयामित्र सेठ के साथ चर्चा वार्ता करता हुआ मार्ग चलता गया। यद्यपि सेठ ने अपने आचरण द्वारा उसे उपदेश देना आरम्भ कर दिया था, पर उसका कोई विशेष परिणाम निकलता हुआ दिखलाई नहीं पड़ रहा था। अत: तेरहवें दिन पड़ाव पर सेठ ने उसे अपने पास बुलाया और आसन देकर अपने पास सम्मानपूर्वक बैठाया तथा ताम्बूल, कर्पूर आदि से सत्कार कर कहने लगा—हे द्विजोत्तम! आपके धर्म मार्ग को छोड़कर मैंने अन्य लोगों के धर्म को स्वीकार किया था, किन्तु अब मैंने अपने पुण्योदय से आपको प्राप्त कर लिया है और अब आपके सत्संग से धर्म मार्ग मिल गया है। आप जैसे सज्जन, क्रियाकाण्डी, त्यागी, विद्वान् ब्राह्मण को देखकर मेरे मन में भक्ति भावना जाग्रत हो गयी है। अब मैं आपके धर्म को स्वीकार करूँगा, सेठ के इन वचनों को सुनकर वसुभूति अपने भाग्य की सराहना करने लगा और मन ही मन प्रसन्न होता हुआ तथास्तु कहने लगा—

सेठ ने पुन: वसुभूति से कहना आरम्भ किया—

सेठ—विप्रदेव! एक निवेदन मेरा आप से यह है कि मैं अपनी कुल परम्परा से एक व्रत करता चला आ रहा हूँ, मैं इसे छोड़ नहीं सकता हूँ। मेरे पूर्वज जिस प्रकार इस व्रत को करते आये थे, उसी प्रकार मुझे भी इसे करना है। अब इसके करने का समय आ गया है।

पञ्चेन्द्रियों के विकारों को जीतनेवाले तथा देव और असुरों द्वारा वन्दनीय अर्हन्त भगवान् मेरे कुलदेव हैं, उनके मुख से उद्‌भूत तथा अन्य आचार्यों के द्वारा व्याख्यान किये गये व्रत को पालूँगा।

जब मैं घर में था, तब मुझे सब प्रकार की सामग्री मिल जाती थी, किन्तु आज इस जंगल में मुनि के न रहने से नहीं मिल रही है। अत: मैं इस समय अपने अष्टाह्निका व्रत का पालन कैसे करूँ?

हे विप्रदेव! आप पृथ्वी में स्तुत्य हैं, विद्या, कुल और विवेक में श्रेष्ठ हैं, अत: मुनि के न रहने पर भी आपको दान देने से मेरा कल्याण हो जायगा। आप साहसी हैं, यशस्वी हैं और आप विद्या, बुद्धि में श्रेष्ठ हैं। अत: आप भी दिगम्बर मुनि हो सकते हैं। यहाँ अन्य कोई मुनिराज नहीं हैं, अत: आप ही मुनि बन कर मेरे व्रत के सम्पन्न कराने में निमित्त बन सकते हैं। मैं आपको दान देकर सब प्रकार से कृतार्थ हो जाऊँगा। आपको दिया गया दान कल्पवृक्ष के समान फल देगा। अब मुझे कल से अष्टाह्निका व्रत करना है, व्रत पूर्ण होने तक आप दिगम्बर मुनि हो जाँय। व्रत समाप्त होने पर आप जितनी दक्षिणा कहेंगे, मैं सहर्ष दे दूँगा। दयामित्र सेठ के इन वचनों को सुनकर वसुभूति लोभ से आकृष्ट होता हुआ बहुत प्रसन्न हुआ और मन ही मन सोचने लगा कि भगवान् बड़े दयालु हैं, मेरी मनोकामनाएं पूर्ण करेंगे। जब धन मिलने को होता है, छप्पर फाड़कर मिलता है। प्रभो! आपने मेरी मनोकामना पूर्ण की।

बिना दवा के अन्धे व्यक्ति को आँखों की प्राप्ति होने पर जितनी प्रसन्नता होती है अथवा बिना भोगे सुन्दर कन्यारत्न की प्राप्ति होने पर जैसे प्रसन्नता होती

है, सन्तानहीन को सन्तान प्राप्त होने पर जितनी प्रसन्नता होती है, उससे भी बढ़कर दयामित्र सेठ के वचनों से वसुभूति ब्राह्मण को प्रसन्नता हुई। वह सोचने लगा आज पुण्योदय से मैं रत्नराशि के समूह में आ गया हूँ, विपुल सम्पत्ति का स्वामी होने वाला हूँ। दयामित्र सेठ के पास अपार धनराशि है, वह मुझे यथेच्छ धन-धान्य देने में आनाकानी क्यों करेगा? वसुभूति की विचारधारा और आगे बढ़ने लगी, नाना प्रकार की कल्पनाओं ने आकर उसे घेर लिया। वह सोचने लगा-अहा! मेरे समान संसार में आज भाग्यवान् कौन होगा? क्योंकि बिना परिश्रम के मुझे विपुल धनराशि मिलने को है। आठ दिन के पश्चात् मैं आनन्द पूर्वक धन प्राप्त कर अपने घर जाऊँगा और अपने समस्त दारिद्र्य को दूर कर दूँगा। मैंने जीवनभर धन के अभाव में दुःख उठाया है, मेरी पत्नी को कभी अच्छा खाना व अच्छे वस्त्र नहीं मिले। बेचारी जाड़े की रातों को बैठे-बैठे आग तापते हुए बिताती रहती है। घर में एक टूटी झोपड़ी को छोड़ और कुछ नहीं। धन मिलने पर मैं सब से पहले पक्का बढ़िया मकान बनवाऊँगा तथा अपनी पत्नी के लिए इतने आभूषण बनवाऊँगा, जिससे पड़ोसिन जो अभी उससे घृणा करती है, उसके आश्रय में आ जाय और उसकी प्रशंसा करे तथा कहे कि तुम धन्य हो, तुम्हारा सौभाग्य धन्य है, जिससे तुम्हें इतना बड़ा विद्वान् पति मिला, जिसने विपुल सम्पत्ति कमाकर तुम्हें सोने से पीला कर दिया। मैं अपने भाग्य पर इठलाऊँगा, गाँव के सभी लोग मेरा रोब मानेंगे तथा जो मैं कहूँगा, उसी को उन्हें पूरा करना होगा, अब तो दही, चीनी और पूड़ियां प्रतिदिन खाने को मिलेगी। दयामित्र सेठ ऐसे ही अच्छा खाने को देता है, अब तो और भी बढ़िया खाने को मिलेगा, सब प्रकार से बीसों अंगुलियां घी में हैं। इस प्रकार ऊहा-पोह कर सेठ से कहने लगा—

वसुभूति—श्रेष्ठिन्! मुझे आपकी बात स्वीकार है, कृपा कर अपने व्रत की विधि बतलाइये।

दयामित्र सेठ—विप्रदेव! आपको दिगम्बर बनना पड़ेगा तथा मौन पूर्वक खड़े होकर सुन्दर भोजन दिन में एक बार ग्रहण करना होगा। दूसरे व्यक्ति ग्रास बनाकर आपके हाथ में रख दिया करेंगे और आप पाणिपात्र में ही रख कर उसे ग्रहण

करेंगे। भोजन के साथ ही आपको जल ग्रहण करना होगा। भोजन दिन में एक बार ही लेना होगा। भोजन के पश्चात् पानी, सुपाड़ी, ताम्बूल आदि कोई भी पदार्थ नहीं ग्रहण करना होगा। रात को मौन से रहना पड़ेगा, एकान्त स्थान में ध्यान, स्वाध्याय करते हुए अपना समय व्यतीत करना होगा।

स्नान, दन्तधावन, घर के कुटुम्बियों की स्मृति, सांसारिक कार्यों का चिंतन, मन को विकार ग्रस्त करना, किसी भी प्रकार की चिन्ता करना आदि का सर्वथा त्याग करना होगा। अपने विचारों और भावों को शुद्ध रखना पड़ेगा, अपने समय को आनंद पूर्वक व्यतीत करना होगा।

व्रत के प्रारम्भ में सुमेरु पर्वत के समान धैर्य धारण कर कष्टसहिष्णु बन हाथ से केशलुञ्च करना होगा। दिगम्बर होकर लज्जा को जीतना पड़ेगा, विकार और वासनाओं को हृदय से बिल्कुल दूर कर देना होगा। श्रमण बनकर मेरे व्रत को पूरा करना पड़ेगा। मेरे निवास स्थान पर ही रहकर मुनिदीक्षा लेनी होगी। मेरे व्रत की समाप्ति हो जाने पर दीक्षा छोड़ देना और फिर मनमाना द्रव्य लेकर जहाँ इच्छा हो चले जाना।

वसुभूति ने लोभ में आकर आगा पीछा न सोचकर हाँ कर दी और सेठ के वचनों को अक्षरशः स्वीकार कर लिया। वसुभूति अपने आप सोचने लगा कि मैं तो अपने घर से बहुत दूर आगया हूँ, यहाँ कोई मुझे नंगा देखकर हंसने वाला भी नहीं है, नंगा होने में हानि ही क्या है? पशु पक्षी तो सदा नग्न ही रहते हैं। बालों का लुञ्चन कर दूँगा, पुनः आजायेंगे। यद्यपि केशलुञ्चन के समय कुछ कष्ट होगा, पर आगे की उन्नति का ख्याल कर उसे सहना पड़ेगा। हाँ बिना नमक का भोजन करना, स्नान न करना, ताम्बूल भक्षण न करना आदि बातें अवश्य विचारणीय हैं। पर दो महिने उपरान्त तो सब कुछ खाने-पीने को मिलेगा ही, अतः भविष्य की आशा पर यह सब भी सहन किया जा सकता है। एक बात मेरे लिये विशेष कष्टकर अवश्य होगी, कि चिकनी सुपाड़ी जो कि मुझे विशेष प्रिय है, उसका अभाव मैं कैसे बर्दाश्त करूँगा? कुछ क्षण तक विचार करने के उपरान्त मन ही मन कहने लगा कि भविष्य की सुख-कामना के लिये सब कुछ सहना पड़ता है, बड़ी से

बड़ी प्रिय वस्तु का भी त्याग करना पड़ता है। अपने को बिना कष्ट दिये आज तक किसी को क्षणभर के लिये भी सुख नहीं मिला है। जो पहले कष्ट प्राप्त करते हैं, पीछे वे ही आनन्द लूटते हैं। वेद, उपनिषद, पुराण आदि प्रत्येक स्थल पर चर्चाएं आती हैं कि कष्ट सहने के उपरान्त ही आनन्द प्राप्त होता है। अतएव मुझे भी अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिये इस समय सेठ की बातों को स्वीकार कर लेना चाहिये। मेरा कल्याण इसी में है। यद्यपि श्रमणों से मुझे चिढ़ है, फिर भी मैं लाभ के निमित्त श्रमण बनूँगा। अपना कार्य सिद्ध होते ही नंगापन छोड़ पीताम्बर धारी बन जाऊँगा। मेरी सब जगह प्रतिष्ठा होगी, लक्ष्मी और सरस्वती दोनों का एकत्र सम्मेलन अब तक ऐसा कहीं नहीं हुआ, होगा। मेरी कीर्ति सुनकर देवलोग भी ईर्ष्या करेंगे।

इस प्रकार सोच विचार कर वसुभूति ने दयामित्र से मुनि बन जाना स्वीकार कर लिया। दयामित्र सेठ आगे बढ़ा और अगले पड़ाव पर पहुँचकर भगवान् का अभिषेक और पूजन किया। पूर्व निश्चय के अनुसार वसुभूति ब्राह्मण को उच्चासन देकर पूर्व दिशा की ओर मुँह कर बैठाया। दयामित्र सेठ उसके केशों का लुञ्चन करने लगा; दो चार बाल उखाड़े गये थे कि वह चिल्लाने लगा और मरा-मरा कहकर रोने लगा। उसकी हाय-हाय-मरा मरा की आवाज सुनकर सेठ ने कहा— महाराज! अब दक्षिणा नहीं मिलेगी। आपसे पहिले ही तय किया जा चुका है कि व्रत समाप्ति पर्यन्त आपको श्रमण बना रहना होगा तथा पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार सारी क्रियाओं का पालन करना पड़ेगा।

दयामित्र सेठ के इन वचनों ने वसुभूति को विचलित कर दिया। वह पुन: सोचने लगा हाय-हाय, मैंने आती हुई लक्ष्मी को लात मारदी। मैं क्यों चिल्लाया? हाय, मेरा भाग्य ही फूट गया। इस प्रकार पछताते हुए उसने सेठ से कहा—हाँ सेठ जी! मैं प्रसन्नता पूर्वक सब कुछ सहने को तैयार हूँ। मैं अपने वचनों का पालन करूँगा, इतना कहकर चुप हो गया और भीतर ही भीतर बाल उखाड़ने के कष्ट को सहने लगा।

अत्यधिक पीड़ा होने के कारण उसके दाँत कटकटाने लगे, दाँतों की भिच्ची मर गयी, आँखों से आँसू आने लगे, सी-सी और हा-हा करता हुआ भीतर ही भीतर सिसकियां भरने लगा; सिर को हाथ से टटोलने लगा।

जैसे घोड़े के ऊपर बैठकर भेड़ काँपती है, मुर्दे को देखकर जैसे डरपोक मृत्यु के डर से काँपता है, बरसात में पानी न बरसने से जैसे कृषक दुःख से काँपते हैं, साक्षी के बिना मुकदमा दायर करने वाला काँपता है, कोतवाल के द्वारा पकड़ा गया चोर जैसे काँपता है, भूत से पीड़ित जैसे हूँ हूँ करता है उसी प्रकार वसुभूति भी दुःखी होकर काँपने और हूँ हूँ करने लगा।

जैसे सिर में जूँ पड़ जाने पर सिर खुजलाया जाता है, बछड़े के मर जाने पर जैसे गाय रँभाती है, बच्चे के मरने से जैसे माँ रोती है; भयंकर कीचड़ में फँसने से जैसी दशा होती है, घर में सम्पत्ति के होने पर सन्तान के अभाव में जैसे अन्तर्द्वन्द होता है, शूली पर लटकाया हुआ व्यक्ति जैसे तड़फड़ाता है, छोटा बच्चा किसी के द्वारा पकड़े जाने पर जैसे रोता है, मौन धारण करने पर मन में विचारों के आने पर जैसे हूँ हूँ लोग करते हैं, ठीक उसी प्रकार वसुभूति ने भीतर ही भीतर छटपटाते हुए असह्यवेदना सहकर एक घंटे में केशलुञ्चन कराया।

विनय के समुद्र और सत्य-दया के आगार दयामित्र सेठ के कथनानुसार उपवास करने लगा। उसने रात घड़ियां गिनते-गिनते बितायीं, पश्चात् प्रातःकाल आहार के लिये निकला।

दयामित्र ने वसुभूति के आहार के लिये नाना प्रकार के व्यञ्जन तैयार किये तथा उसे पड़गाह कर आहार दिया। सबसे प्रथम उसने मिष्ठान मिश्रित दुग्ध पान किया, पश्चात् घृत मिश्रित पूरन पूड़ी, सेव, सादी पूड़ी, मोदक, बरफी इत्यादि सुस्वादु पदार्थ भक्षण किये। अनन्तर भात और मूंग की दाल में घी मिलाकर अमृत तुल्य आहार लिया, पश्चात् केला, छुआरा, नारंगी, मोसम्मी, नींबू, अमरूद आदि फलों का आहार लिया। भोजन की लोलुपता के कारण उसने खूब भोजन किया, पानी बहुत कम लिया, जिससे अधिक भोजन किया जा सके। पश्चात् हाथ पांव

धोकर वह बाहर एक पट्टे पर आकर बैठ गया और सोचने लगा कि आज मैंने जैसे सुस्वादु पदार्थ खाये हैं, वे स्वर्ग में इन्द्र को भी अप्राप्य हैं। इनका वर्णन करना शक्ति के बाहर की बात है। आज जैसा भोजन मैंने ग्रहण किया है, वैसा मुझे किसी जन्म जन्मान्तर में भी नहीं मिला होगा। अहा, मैं धन्य हूँ, जो मैंने कल के थोड़े से कष्ट को बर्दाश्त कर आज स्वर्गीय सुख को प्राप्त किया।

वास्तव में मेरे समान कोई भी नहीं है, ऐसा भोजन राजा-महाराजाओं को भी प्राप्य नहीं। श्रमण बनकर मैंने बड़ा अच्छा किया; दक्षिणा भी पीछे मिल ही जायगी, जिससे मैं स्वयं खूब ठाठ से रहूँगा। इस प्रकार वसुभूति दिनभर भोजन तथा अपने भविष्य के सम्बन्ध में सोचता रहा। नाना प्रकार के मनसूबे बांध कर अपने को हर्ष-विषाद में डालता रहा।

सन्ध्या समय उसे बड़े जोर की प्यास लगी और मन में नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प उत्पन्न होने लगे और लम्बी-लम्बी सांसें खींचने लगा। जैसे बन्दर को बिच्छू के काटने पर बैचेनी आती है और वह इधर-उधर तड़फड़ाता फिरता है, कमरे में बन्द कर देने पर भी शान्त नहीं होता है; ठीक उसी प्रकार वसुभूति भी प्यास के मारे व्याकुल हो गया। उसके मन में किसी प्रकार भी शान्ति नहीं आती थी।

रात को उसकी पिपासा और भी बढ़ी, वह व्याकुल होकर जमीन चाटने लगा और सोचने लगा कि यदि तालाब पास में हो तो पानी के लिये जाना चाहिये। जैसे वायु के तीव्र झोकों से वृक्ष काँपता है, उसी प्रकार वसुभूति बैचेन होकर छटपटाने लगा। उसका तालु सूख गया, जीभ सट गयी और आँखें बाहर को निकलने लगीं। वह सोचने लगा—कि मैं तो दरिद्र ही अच्छा था, उस समय रूखा सूखा खाकर आराम से सो जाता था, किन्तु यह अवस्था तो मेरे लिये असह्य है। मालूम होता है कि मेरे प्राण निकल जायेंगे। अहा, प्यास भी कितनी भयंकर होती है। भूख सहन की जा सकती है, पर प्यास सहना तो बड़ा ही कठिन है इस प्रकार त्राहि-त्राहि करते-करते आकाश की ओर देखने लगा। जैसे ज्योतिषी लोग ताराओं को देखते-देखते रात बिता देते हैं, वैसे ही बादलों की ओर देखते-देखते वसुभूति भी रात

बिताने लगा। हाथ पैर में शक्ति न रहने से फण कटे सांप के समान जमीन में पेट के बल चलने लगा। वह रह-रह कर आकाश की ओर देखता था।

वसुभूति के मन में विचित्र द्वन्द था। दक्षिणा की आशा उसे जीवित रखने के लिये अब भी उत्साहित कर रही थी, वह बार-बार भविष्य की बात सोचकर धैर्य धारण करने का प्रयत्न करता, अपने मन को भुलाता किन्तु प्यास की यथार्थता उसके सारे मनसूबों को बालू की भींत के समान गिराने में समर्थ थी। प्यास के मारे उसे एक क्षण को भी शान्ति नहीं मिलती थी। यद्यपि जी बहलाने का प्रयत्न उसने बहुत किया, पर प्यास उसका पीछा नहीं छोड़ना चाहती थी। वह जितना अपने को भुलाता, प्यास उतनी ही अधिक कष्ट देती थी।

जैसे नवीन धनी को चोर के भय से नींद नहीं आती, चातक पक्षी जल की आशा लगाये जैसे आकाश की ओर देखते हुए रात बिता देता है, दाहज्वर वाला जैसे शीतल वायु के सेवन के लिये आतुर रहता है, मेंढक जैसे पत्थर के नीचे बैठकर टर्र-टर्र करता है, स्त्री जैसे प्रथम स्नान के समय भय से काँपती है, उसी प्रकार प्यास से आकुल वसुभूति छटपटाने लगा।

छिपकली जैसे दीवाल पर चढ़ने का उपक्रम करती है अथवा लता जैसी टेढ़ी होकर दीवाल पर चढ़ती है, उसी प्रकार वसुभूति प्यास से व्याकुल होकर दीवाल पर चढ़ने लगा। कुट्टिनी स्त्री जैसे व्यभिचार-रत रहने पर किसी व्यक्ति के आने पर भागती है, शराब पीनेवाला जैसे नशा आने पर बकता है, बुड्ढा व्यक्ति लकड़ी लेकर चलने पर काँपता है, वायु से लता हिलती है, उसी प्रकार वह भी व्याकुल होकर हाथ पैर जमीन परपटकने लगा।

प्यास की वेदना के अतिरिक्त केशलुञ्च के कारण सिर के फूल जाने से उसकी भी वेदना थी। इन दोनों कारणों से वह रात भर मार्मिक पीड़ा से माँ से अलग किये गये बच्चे के समान तड़फड़ाता रहा।

वसुभूति ने जिस किसी प्रकार छटपटाते हुए रात बितायी और प्रातःकाल होने पर पीछी, कमण्डलु उठाकर दयामित्र सेठ के निवासस्थान की ओर चला। वहाँ

पर पहले दिन जैसा सामान लड्डू, पूरी, मिठाइयां, खीर, हलुआ आदि विविध प्रकार के व्यंजनों को देखकर डर गया। उसने जी भरकर पानी पीया और थोड़ा-सा भोजन करने लगा। दयामित्र सेठ आहार देते हुए बोला—

महाराज! आप उत्तम कुल में उत्पन्न हुए हैं, आप गुणवान हैं, मैं आपको जो दूँ आप उसे प्रेम से ग्रहण करें। आपको दिया हुआ दान व्यर्थ नहीं जायेगा। आप सज्जन हैं, मौन से मेरा दिया हुआ आहार ग्रहण करें। इस प्रकार प्रेम पूर्वक बातें करते हुए वसुभूति को दयामित्र ने भोजन कराया।

वसुभूति भोजन कर सोचने लगा—यह एक दिन का व्रत एक वर्ष के बराबर है। खड़े होकर हाथ से न तो पर्याप्त जल पीया जा सकता है और न यथेष्ट भोजन ही। भूख प्यास की वेदना को मैं कब तक सहन करूँगा? स्नान नहीं करना, एकान्त में रहना, एक बार खाना, वह भी खड़े होकर, ये सब बातें मेरे लिये असह्य हैं। अब मुझे धनी नहीं बनना है, मैं गरीब रहकर ही जीवन बिता दूँगा, पर इस कष्ट को सहन करने की शक्ति मुझ में नहीं है। जब यह शरीर ही नहीं रहेगा तो धन का कौन उपभोग करेगा? न मालूम श्रमण कैसे इन कष्टों को सहते होंगे। मुझ से तो एक दिन भी कष्ट सहे नहीं जा सकते हैं। पुनः उसकी विचारधारा दक्षिणा की ओर गयी और सोचने लगा कि धन प्राप्त करने के लिये सभी को कष्ट सहन करने पड़ते हैं, बिना कष्ट के धन किसको मिला है? अधिक क्या लोग जान देकर भी धन प्राप्त करते हैं, मुझे तो बढ़िया खाना मिल रहा है, आदर सत्कार भी मेरा खूब हो रहा है। कुछ कष्ट सहकर यदि धन मिल जाय तो कोई बात नहीं है। मुझे धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए, कुछ दिनों की तो बात ही है, आठ दिन के बाद तो व्रत समाप्त हो ही जायगा; फिर तो मेरे मजे-ही-मजे हैं, मे᳚ समान कोई भी नहीं हो सकता है। सम्पत्ति बड़े भाग्य से मिलती है, मुझे तो इसके लिये कुछ विशेष श्रम नहीं करना पड़ रहा है, अनायास ही सम्पत्ति मिल रही है। धनकुबेर यह दयामित्र मुझे भाग्य से ही मिला है तथा इस व्रत को करने का सौभाग्य भी मुझे पुण्योदय से ही प्राप्त हुआ है। व्रतमार्ग की कठिनता विचार कर पुनः सहम गया। नीति भी है कि—

स्वच्छन्द रूप से तालाब में स्नान करने वाला; मनमाना स्वतन्त्र रूप से भोजन करने वाला, स्वेच्छा पूर्वक विहार करने वाला, किस प्रकार एकान्त स्थान में व्रतों में लीन होकर स्थिर रह सकता है ? ऐसे व्यक्ति को व्रत अच्छे नहीं लग सकते। पर लोभ से मनुष्य बड़े-बड़े कष्टों को भी सह सकता है। इस लोभ की माया धन्य है। संसार में सबसे बड़ा पाप लोभ ही है—

वसुभूति का शरीर भी दिगम्बर दीक्षा से-स्नान न करने, भोजन खड़े होकर एक बार करने, प्यास का दु:ख सहने, नग्न रहने आदि के कारण अत्यन्त कृश हो गया,वह सूखकर कांटा हो गया।

यह हवा में रखे हुये दीपक के समान चंचल, झगड़ा करने वाली स्त्रियों के समान उद्विग्न, पति के स्नेह से वंचित पतिव्रता नारी के समान उदासीन, माँ के स्नेह से रहित, पुत्र के समान आकुल, अग्नि के द्वारा झुलसे हुए पेड़ के पत्तों के समान त्रस्त एवं खींची हुई रस्सी के समान कृश हो गया था। व्रत की कठिन साधना से ऊबकर एक दिन वसुभूति दयामित्र से कहने लगा—

संसार में बाघ की मूंछ उखाड़ कर लाना, सिंह को पकड़ना, अग्नि में प्रवेश करना एवं मदोन्मत्त हाथी को वश में करना सरल और सुकर है, किन्तु श्रमणों के व्रत पालन करना बड़ा कठिन है। वास्तव में श्रमण बड़े ही सहनशील, धैर्यशाली क्षमावान्, अहिंसक और कर्त्तव्यपरायण होते हैं।

तृषा, खुजली, केशलुञ्च के कारण सिर दर्द ये बातें कहने में भले ही सरल हों पर करने में बड़ी कठिन है। यह मुझे आज मालूम हुआ है। अब तक मैं श्रमणों से घृणा करता था, उनकी चर्या को देखकर हंसता था, पर अब मैं इनकी विशेषता को समझ गया। मुझे तो आठ दिन आठ वर्ष के समान मालूम पड़ते हैं, मैं इस दु:ख को अब सहन करने में सर्वथा हूँ। मेरी अवस्था उस बैल के समान है, जो स्वयं शक्तिहीन है, जिस पर बोझ अधिक लाद दिया गया है तथा उसके ऊपर बैठकर कोड़े लगाये जा रहे हैं। मैं भी इसी प्रकार दरिद्र हूँ, लोभ की भावना मुझ में अधिक है, महत्वाकांक्षाएं मुझे परेशान किये हैं, इस पर यह व्रत की साधना

और भी कष्ट दे रही है, यह तो "एकस्य दुःखस्य न यावदन्तता बालू द्वितीय समुपस्थितं मे" कहावत चरितार्थ हो रही है। इस व्रतरूपी अग्निका स्पर्श करते मुझे भय हो रहा है, यदि आप मुझे एक बार सुविधानुसार भोजन करने की, तालाब में स्नान करने की, यथेष्ट ठन्डा जल पीने की ओर स्वतन्त्रतानुसार थोड़ा भ्रमण करने की सुविधा प्रदान करें तो मैं दो महीने तक व्रत का पालन कर सकता हूँ। वसुभूति के इन वचनों को सुनकर दयामित्र को हंसी आ गयी। दयामित्र-बातें तो लोग बड़ी-बड़ी करते हैं, पर जब करने का समय आता है तो भाग जाते हैं। आप ही श्रमणों की हंसी करते थे, उन्हें मुफ्तखोर और न जने क्या-क्या कहते थे। अब अपने ऊपर स्वयं आया तो आप समझे कि दिगम्बर दीक्षा कितनी कठिन है? आप जो सहन कर रहे हैं, यह तो मात्र बाह्य कष्ट है। व्रतों का पालन तो बड़ा ही दुःसाध्य है।

जैसे सांप से रहित स्थान में मेंढक खूब टर्राते हैं, किन्तु जब सांप दिखलायी पड़ जाता हैं तो मृतक के समान चुप हो जाते हैं; इसी प्रकार मूर्ख लोग प्रारम्भ में बढ़-बढ़ कर बातें करते हैं, किन्तु जब परीषह सहन करने का समय आता है तो नानी याद आने लगती है और दिशा भ्रम हो जाता है। मूर्ख लोग अपनी इच्छानुसार स्वीकार किये गये धर्म की प्रशंसा करते हैं, किन्तु सन्मार्ग में लगाने वाले जैनधर्म को सहन करने की शक्ति न होने से निन्दा करते हैं। जिस प्रकार कच्चे चने की कोमलता लोहे के चने में नहीं मिल सकती है, उसी प्रकार आत्मकल्याण करने की शक्ति सच्चे धर्म में ही है, मिथ्याधर्म में नहीं।

दयामित्र वसूभूति को समझाता हुआ कहने लगा—मित्रवर! देखिये आपको एक परिषह सहन करने में कितना कष्ट हुआ है। श्रमण सदा 22 परीषह, 12 तप, 10 धर्म और 13 प्रकार का चारित्र आजीवन शान्ति पूर्वक पालते हैं। इन व्रतों की साधना से इन्हें रंचमात्र भी कष्ट नहीं होता है, बल्कि व्रताचरण पालने में उन्हें प्रसन्नता होती है। इन्द्रिय जय, विकार और वासनाओं को दूर करना एवं अपनी इच्छाओं पर सब प्रकार से नियन्त्रण करना श्रमणों की ही शक्ति है। वसुभूति को दयामित्र की इन बातों से बड़ा आश्चर्य हुआ।

वसुभूति अपने मन में सोचने लगा—जैसे कृषक बीज बोता है, अंकुर प्रकट हो जाते हैं पर पानी न बरसने पर क्रोध के आवेश में आकर उन अंकुरों को तोड़ डालता है उसी प्रकार क्रोध में आकर दक्षिणा के लोभ से मैंने व्रतों को ऐसे ही खो दिया। दो-चार असैनिक व्यक्तियों को एकत्रित देखकर उन्हें सैनिक समझ लेना कार्यकारी नहीं होता, उसी प्रकार मैंने मुनियों के मार्ग को कल्पित समझ अज्ञानतावश निन्दा की है। जिस प्रकार पागल यथार्थ बात कहने पर भी विवेकी नहीं माना जा सकता है, वेश्या एक दिन के लिये सतीत्व धारण करने पर भी सती नहीं हो सकती है, उसी प्रकार मैं थोड़े दिनों के लिये व्रत धारण करने पर भी व्रती नहीं हो सकता हूँ। दयामित्र सेठ का धर्म ही सच्चा है, मैंने अज्ञानतावश निन्दा की है। श्रमण वास्तव में सच्चे साधु हैं, उनका मार्ग आत्मकल्याण का मार्ग है। बाईस परीषहों को सहन करने की शक्ति श्रमणों में ही है, अन्य लोगों में नहीं। जैसे सुमेरु पर्वत दूर से छोटा मालूम होता है और पास जाने पर बड़ा; उसी प्रकार दिगम्बर दीक्षा और इस दीक्षा का पालन करने वाले श्रमण महान् हैं, देखने में भले ही छोटे मालूम होते हों। इस प्रकार विचार करता हुआ वसुभूति वात्सल्य रत्नाकर दयामित्र सेठ से हाथ जोड़कर बोला—

आपने जिस धर्म मार्ग को ग्रहण किया है, वह सच्चा है, कृपया मुझे उसका उपदेश दें, मेरी लालसा उस धर्म मार्ग को श्रवण करने की है।

दयामित्र—वस्तु के स्वभाव का नाम धर्म है। जैसे जल का स्वभाव शीतल, अग्नि का स्वभाव गर्म है, उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शनमय है। यही आत्मा का धर्म है, इस धर्म से च्युत होना अधर्म है। अर्थात् जब तक आत्मा अपने स्वरूप की ओर झुकी रहती है, धर्म मार्ग में लगी है और अपने स्वरूप को छोड़ जब पर पदार्थों की ओर लग जाती है, अधर्म मार्ग की ओर चली जाती है। मोटे रूप से यों समझिये कि रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्मा का धर्म है अथवा उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम, आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ही धर्म है। सच्चा धर्म संसार के दुःखों से जीवों को छुडाकर परमपद देता है। "संसार

दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे" अर्थात् जो संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख देता है, वही धर्म है। इस दयामय श्रेष्ठ धर्म का पालन करने से किसी भी प्रणी को कष्ट नहीं हो सकता है। अधर्मरूप प्रवृत्ति के होने पर ही दुःख होता है। मनुष्य को कष्ट तभी तक होता है, जब तक वह अपने से भिन्न पदार्थों को अपना समझता रहता है इसी कारण राग और द्वेष सबसे बड़े अधर्म माने गये हैं, क्योंकि इन्हीं के कारण ही तो जीव परपदार्थों को अपना तथा स्व को पर समझता है। भेदबुद्धि से राग-द्वेष ही उत्पन्न होते हैं। आत्मानुभूति में सबसे बाधक ये दोनों हैं। जब तक जीव की प्रवृति राग-द्वेष मय रहेगी, जीव धर्म का अनुसरण नहीं कर सकता।

जिस प्रकार दर्पण में अपना मुंह देखने पर अन्य का मुंह दिखलायी नहीं पड़ता है, उसी प्रकार पक्षपात वश अन्य धर्म के गुण नहीं दिखायी पड़ते हैं। धर्म-द्वेष संसार में बहुत बुरा है। इसके अधीन हुआ व्यक्ति कहीं भी अपना उत्थान नहीं कर सकता। धर्म तो सुख और शान्ति ही देता है, लड़ाई-झगड़े, खून-खराबियां धर्म नहीं सिखलाता। अतः हे वसुभूति आप भैंसा के समान कायरता-बगुले के समान धूर्तता, श्रृगाल के समान मायाचार, सौत के समान ईर्ष्याभाव एवं तोते के समान अध्ययन पर्यंत ही ज्ञान की सीमा को छोड़कर सावधान होकर धर्म का स्वरूप सुनिये। धर्मात्मा व्यक्ति की दृष्टि संकुचित नहीं होती। उसे अपना-परया कोई नहीं दिखलायी पड़ता। समस्त संसार के साथ उसका मैत्री भाव रहता है। वसुभूति—हे श्रेष्ठिन्! आप कृपाकर मुझे गृहस्थ धर्म को बतलाइये, जिससे मैं कालान्तर में अपना कल्याण कर सकूँ। मुझे आपकी बातें विशेष रुचिकर प्रतीत हो रही हैं। अब तक मैं अपने को सबसे बड़ा समझ बैठा था, मुझे जाति-अभिमान बहुत था तथा मैं वैदिकधर्म को ही सत्य मानता था। यज्ञों में होने वाली हिंसा को मैं विधेय समझता था। आज आपके उपदेश ने मेरा बड़ा कल्याण किया है। कृपया आगे और समझाइये।

दयामित्र—गृहस्थधर्म का अर्थ यह है कि घर में रहते हुये अपने आत्मस्वरूप का आचरण करना। यद्यपि परपदार्थों से ममत्व बुद्धि गृहस्थावस्था में नहीं हटाई

जा सकती है, फिर भी इन पदार्थों से अपने को निर्लिप्त रखा जा सकता है। संयम पालन-इंद्रिय और मन को वश में रखना तथा समस्त प्राणियों की हिंसा से बचना भी प्रत्येक गृहस्थ के लिए आवश्यक है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचों अणुव्रतों का पालन करना, शक्ति के अनुसार दान देना, प्राणियों का उपकार करना धर्म है। यदि गृहस्थ अपने जीवन में अहिंसा धर्म का पालन करने लगे तो उसके जीवन में स्वावलम्बन की प्रवृत्ति बहुत कुछ आ जाती है। मद्यपान करना, वेश्यागमन करना, परस्त्री सेवन करना, जुआ खेलना, मांस खाना, शिकार खेलना क्या कभी भी धर्म हो सकता है? यज्ञ के नाम पर जो हिंसा की जाती है, वह कभी भी धर्म नहीं। यज्ञ के लिये मद्य का भी उपयोग करते हैं, हवन में मांस, मदिरा चढ़ाई जाती है, यह कभी भी विधेय नहीं हो सकता।

दूसरे प्राणियों को कष्ट देना, अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये नाना प्रकार से छल-कपट करना, अनात्मीय भावों में लगे रहना तथा भौतिक पदार्थों को अपना समझकर आत्मा से बहिर प्रवृत्ति रखना अधर्म है। जो व्यक्ति शरीर को आत्मा समझ लेता है तथा जिसे ज्ञान दर्शनमय आत्मा का विश्वास नहीं, उस व्यक्ति को धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्या धर्म कहीं से लाया जाता है? यह तो अपनी आत्मा की वस्तु है। आत्मा का जैसा स्वभाव है, वैसा आचरण करना ही धर्म है। आत्मा का स्वभाव हिंसा करने का नहीं है, आत्मा झूठ भी नहीं बोलती है और न व्यभिचार करती है। ये सभी क्रियाएं आत्मा की नहीं हैं, जीव कर्मों के कारण इन सब क्रियाओं को करता है। संसार का कोई भी धर्म हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह को विधेय नहीं मानता सभी धर्म इनको पाप बतलाते हैं।

राजा नाम रखने से जैसे कोई व्यक्ति राजा नहीं हो सकता है, उसका आदेश भी कोई नहीं मान सकता है और न उसका सम्मान राजा के समान हो सकता है, इसी प्रकार झूठे धर्म से व्यक्ति का कल्याण नहीं हो सकता है। कोई भी व्यक्ति अपना उत्थान आत्मधर्म से ही कर सकता है। अतएव यह निश्चित है कि संसार में एक आत्मधर्म ही श्रेष्ठ है, यही समस्त प्राणियों के लिये हितकारक है। यह आडम्बर शून्य होता है, जो इसका आश्रय लेता है, उसका कल्याण हुए बिना नहीं रहता।

जैसे नाना प्रकार के अनाजों से आटा तैयार किया जाता है, पर इन समस्त आटों में गेहूँ का आटा ही श्रेष्ठ और उपादेय माना जाता है; इसी प्रकार अनेक मतमतान्तर आत्मधर्म का वर्णन करते हैं, किन्तु जैनाचार्यों द्वारा निरूपित आत्मधर्म ही सच्चा है। इसी धर्म से समस्त संसार में प्रेम और भाईचारे का सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। जो धर्म आपस में लड़ाने का कार्य करते हैं, वे धर्म सच्चे धर्म नहीं। जैन धर्म स्याद्वाद के द्वारा संसार के समस्त मतमतान्तरों का समन्वय कर सत्य बात का प्रतिपादन करता है। स्याद्वाद ही एक ऐसा सिद्धान्त है जिसके द्वारा वस्तु के सत्यासत्य का निर्णय किया जा सकता है। वसुभूति-श्रेष्ठिन् क्या तब जैन धर्म ही एक सच्चा है, और संसार के सभी धर्म झूठे हैं?

दयामित्र—मित्रवर! जो धर्म वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करे, वही सच्चा है। जैनाचार्यों ने बताया है कि अपेक्षाकृत सभी धर्मों में थोड़ी-बहुत सच्चाई है। हाँ इतर धर्मवालों की दृष्टि अनेकान्त की ओर नहीं रही है, वे एकान्त मार्ग की ओर चले गये हैं, जिससे समान वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन नहीं कर सके हैं। बात यह है कि वस्तु में अनेक धर्म हैं, अनेक गुण हैं। जिस धर्मोपदेशक की दृष्टि जिस गुण या धर्म की ओर जाती है, वह उसी का निरूपण करता है। उसका कहना गलत इसलिये माना जाता है कि वह अपनी एकांगी दृष्टि को पूर्ण समझ लेता है। यदि वह अपनी एकांगता को यथार्थ समझ जाय तब उसके कथन को असत्य नहीं कहा जा सकता है।

वसुभूति—धर्म अधर्म का स्वरूप मुझे समझ में आ गया है। अब कृपया यह बतलाइये कि ये संसार के धर्म झूठे होने पर भी सच्चे क्यों माने जाते हैं?

दयामित्र—कनक धतूरे को भी कहते हैं और कनक स्वर्ण को भी, पर इन दोनों में बड़ा भारी भेद है, इसी प्रकार धर्म-अधर्म में मौलिक अन्तर है। गाय भी दूध देती और मदार (आक) वृक्ष से भी दूध निकलता है। दूध रूप में दोनों समान हैं। किंतु गाय का दूध पीने में स्वादिष्ट और गुणकारी होता है और मदार का दूध प्राणनाशक। इसी प्रकार संसार के अनेक मत धर्म समान दिखलाई पड़ते हैं, पर उनमें बड़ा अन्तर होता है। गाय के घृत और भेलमा के घृत में पर्याप्त भेद है।

गाय के घृत के खाने से स्वास्थ्य में वृद्धि और भेलमा के घृत को खाने से पेट में दर्द जलन, घाव आदि हो जाते हैं। इसी प्रकार सत्यधर्म प्राणीमात्र का उत्थान करता है, इस धर्म के पालन से लौकिक जीवन भी व्यवस्थित होता है तथा आत्मा को अल्पकाल में निर्वाणपद भी मिल जाता है। वास्तविक धर्म अहिंसा ही है, इससे प्राणीमात्र को शान्ति और सुख मिल सकता है।

स्वर्ण रस और लोहरस दोनों रस रूप से समान होने पर भी तुल्य गुणवाले नहीं हो सकते हैं, उसी प्रकार अहिंसा और हिंसा धर्म समान नहीं हो सकते। अहिंसा धर्म के द्वारा शांति मिल सकती है, क्योंकि इस धर्म का उपदेश सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी अर्हन्त ने दिया है। यह अहिंसा धर्म जैनागम में ही पूर्ण रूप से वर्तमान है, क्योंकि इस धर्म के उपदेशकों ने अपने जीवन में अहिंसा का आचरण पूर्ण रूप से उतार लिया था। अहिंसा धर्म के धारण करने से ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो सकती है। वसुभूति—मित्रवर! अभी आपने कहा कि सच्चे धर्म का उपदेश सच्चे देव ने दिया है। अब कृपाकर यह बतलाइये कि सच्चा किसे कहते हैं?

दयामित्र—''आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना। भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥ क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः। न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते''॥

धर्म का मूल सच्चा देव या आप्त है। इसमें तीन गुण होने चाहिये— निर्दोषपना, सर्वज्ञपना, परमहितोपदेशकपना। क्षुधा, तृषा, जरा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मिथ्यात्व, चिन्ता, अरति, निन्दा, विस्मय, विषाद, स्वेद, खेद ये अठारह दोष सच्चे देव में नहीं रहते हैं, इसलिये वह निर्दोष है। संसार के समस्त पदार्थों को तीनों कालीन—भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालीन पर्यायों को जानता है अत: सर्वज्ञ होता है। ज्ञान को रोकने वाला ज्ञानावरण कर्म उसका क्षय हो जाता है, आत्मा में अनन्तज्ञान उत्पन्न हो जाता है अतएव सच्चादेव अल्पज्ञ नहीं होता उसे सभी पदार्थों का साक्षात्कार होता है। सच्चा देव हितोपदेशी भी होता है, संसार के सभी जीवों को हित का उपदेश देता है, असल बात यह है कि असत्य बात

बोलने में तीन बातें कारण होती हैं—पहली बात तो यह है कि कोई व्यक्ति सदोषी हो तो वह राग या द्वेष वश असत्य बात बोल सकता है। दूसरी बात यह है कि अज्ञानतावश भी असत्य बात कही जा सकती है। तीसरी बात—किसी के अहित करने के लिये भी असत्य वचनों का प्रयोग होता है। सच्चा आप्त उक्त तीन दोषों से रहित होता है, अत: वह संसार के लिये कल्याण का उपदेश देता है।

सच्चा देव प्रारम्भ में हम और आपके समान मनुष्य ही रहता है। समय पाकर वह संसार से विरक्त हो जाता है, अपनी आत्मा के स्वरूप को अवगत करने की इच्छा करता है अत: विभिन्न प्रकार की साधनाओं द्वारा आत्मा को शुद्ध करता है तथा आत्मा के शुद्ध होने पर वह सच्चा देव बन जाता है। इस सच्चे देव के द्वारा ही धर्म मार्ग का प्ररूपण होता है तथा इसी के द्वारा बताये मार्ग का अनुसरण करने पर मनुष्य अपना कल्याण कर सकते हैं। कालान्तर में वे भी सच्चे देव बन सकते हैं, अपने भीतर आत्मा के स्वाभाविक गुण अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य गुणों को प्राप्त कर सकते हैं।

धर्म वही है जो जीव को भगवान् बना दे। जैनधर्म संसार के समस्त प्राणियों को भगवान् बनने के लिये उत्साहित करता है तथा जीव को परमपद में स्थापित कर देता है। जहाँ अन्य धर्म किसी भी जीव को सदा भगवान् के सेवक बने रहने के लिये कहते हैं तथा यह कहते हैं कि भगवान् एक ही है, उसके समान अन्य दूसरा नहीं हो सकता; वहाँ जैनधर्म सभी प्राणियों को भगवान् बनने के लिये मार्ग बतलाता है। यह दास या गुलामी मनोवृत्ति को दूर करता है।

हे वसुभूति! कृत्रिम मोतियों को धारण करने वाले संसार में अधिक है, किन्तु परीक्षा कर सच्चे मोतियों द्वारा श्रृंगार करने वाले कम हैं; इसी प्रकार धर्म, अधर्म की परीक्षा कर सच्चे धर्म को धारण कर आत्म कल्याण करने वाले कम ही हैं। नाना प्रकार के वृक्षों की परीक्षा कर चन्दन वृक्ष को पहचान कर उसका लाभ उठाने वाले संसार में इने-गिने ही होते हैं, उसी प्रकार सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित धर्म की परीक्षा कर धारण करने वाले कम ही हैं। जब तक वस्तु परीक्षण की क्षमता न होगी तब तक धर्म को पहचानना कठिन है। निर्दोष परमात्मा के मुख से निकले

हुए परमात्मतत्त्व को जानना और उसके उपदेश पर श्रद्धा करना सम्यक्त्व है; यह सम्यक्त्व महान् पुण्योदय से प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन के बिना जीव का कल्याण नहीं हो सकता है। यही जीव को संसार से चतुर्गति दुःख से छुड़ाने वाला है। जिस जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है, आत्मा का अटल विश्वास जिसके मन में उत्पन्न हो जाता है, वह अपना कल्याण अवश्य कर लेता है। सम्यग्दृष्टि जीव कभी दरिद्री नहीं हो सकता, विकलांग नहीं हो सकता। उसकी इन्द्र, चक्रवर्ती, धरणेन्द्र आदि पूजा करते हैं। परपदार्थों के साथ लगी ममत्वबुद्धि भी सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने से ही दूर होती है, सम्यक्त्व ही आत्मानुभूति को उत्पन्न करने में कारण है; जीव सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होते ही अपने को संसार के समस्त पदार्थों से भिन्न चैतन्य रूप अनुभव करता है, वह परपदार्थों में बिल्कुल भी लिप्त नहीं होता है।

दयामित्र के इस उपदेश को सुनकर वसुभूति की कर्मकालिमा बहुत कुछ धुल गयी, परिणाम विशुद्ध होने से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्व, प्रकृति, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियों का उपशम भी हो गया; जिससे उसकी बुद्धि निर्मल होकर उसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया। वसुभूति ने आनन्दविभोर होकर दयामित्र सेठ की नाना प्रकार से स्तुति की।

इस प्रकार दयामित्र वसुभूति को सम्यग्दर्शन में दृढ़ कर आगे बढ़ा और उसने नन्द्यावली पर्वत पर अपना डेरा डाला। यह स्थान पर्वतीय होने के कारण जंगली हिंसक पशुओं से आवृत्त था तथा इसमें चोर लुटेरों का भी पूरा भय था। परन्तु सम्यग्दृष्टि को किसी का भी भय नहीं रहता, अतः दयामित्र सेठ निर्भय होकर इस स्थान में ठहर गया।

रात को जंगली लुटेरों ने दयामित्र सेठ के साथ वाले व्यापारियों पर आक्रमण किया। दयामित्र वीरता पूर्वक लुटेरों के साथ युद्ध करने लगा। उसने अपार बाण वर्षा की, जिससे लुटेरों के पैर उखड़ गये और वे भागने पर उतारू हो गये। युद्ध के समय वसुभूति दयामित्र के तम्बू में सो रहा था। लुटेरों का एक बाण आकर

वसुभूति को लगा और वह घायल होकर पीड़ा से तड़फड़ाने लगा। यद्यपि सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के कारण उसे अधिक कष्ट नहीं हो रहा था, वह संसार की अस्थिरता का विचार करने लगा। दयामित्र भी जब लुटेरों को भगाकर तम्बू के भीतर आया तो मरणासन्न वसुभूति के पास जाकर कहने लगा—अब आप सल्लेखना धारण करें, क्योंकि आपका कल्याण सल्लेखनाव्रत से ही हो सकता है। आप सच्चे अहिंसक बनें, अहिंसक वीर होता है, अतः आप मृत्यु के साथ वीरता पूर्वक युद्ध करें। मृत्यु का भय सर्वथा मन से निकाल दें।

वसुभूति सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने के कारण आत्म कल्याण के लिये तत्पर था। उसने अपने परिणामों को संसार के बाह्य पदार्थों से हटाकर आत्मा की ओर लगाया और पञ्च नमस्कार मन्त्र का ध्यान करने लगा। ध्यानावस्था में तल्लीन हो उसने शरीर का त्याग किया, जिससे सम्यग्दर्शन के प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग में मणिप्रभ विमान में मणिकुण्ड नामक देव हुआ।

वसुभूति के जीव मणिकुण्ड देव को अन्य देव सम्बोधित कर कहने लगे कि ये दिव्य देवाङ्गनाएं, सुन्दर विमान और सुन्दरतम विभूतियां आपकी हैं, आप इन्हें ग्रहण करें।

स्वर्ग की दिव्य विभूतियों को देखकर वह आश्चर्यान्वित हो हक्का-बक्का रह गया। इसी समय उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया, जिससे उसे पूर्व भव की समस्त बातें अवगत हो गयीं। वह सोचने लगा—मैं कहाँ? इस देवगति का अनुपम सुख कहाँ? यह सम्यग्दर्शन का ही प्रभाव है। केवल सम्यग्दर्शन के बल से ही जीव का उद्धार हो सकता है। इसमें अद्भुत शक्ति है। मैंने तो सदा श्रमणों की निंदा की, उन्हें दुत्कारा और सच्चे धर्म से दूर रहा। दक्षिणा के लोभ से कुछ दिनों के लिये मैंने व्रत ग्रहण किये, मेरी रुचि व्रतों की ओर बिल्कुल नहीं थी। परन्तु दयामित्र के धर्मोपदेश से मेरा कल्याण हो गया इन्हीं की कृपा से मुझे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई है। अहा! दयामित्र के समान परोपकार करने वाले इने-गिने व्यक्ति ही होंगे।

संसार में वही व्यक्ति अभिनन्दनीय होता है, जो जीव के नाना प्रकार के उपायों से कल्याणपक्ष में लगाता है। इस प्रकार दयामित्र की प्रशंसा और अपने आलोचना करता हुआ वसुभूति का जीव मणिकुण्ड देव अपने उपकारी गुरु दयामित्र के दर्शन करने चला। उस समय दयामित्र सेठ भगवान् की पूजा कर रहा था; मणिकुण्ड अपना गौरव और प्रभाव उन्हें दिखाकर स्वर्ग चला गया। इसके पश्चात् उसने सोलह स्वर्ग, नन्दीश्वरद्वीप, ज्योतिर्लोक, भवन लोक, पांच अनुत्तर आदि सभी स्थानों का अवलोकन किया और अकृत्रिम चैत्यालयों का दर्शन पूजन कर अपने सम्यक्त्व को निर्मल किया।

यह एक सागर की आयु को आनन्द पूर्वक भोगता हुआ वहाँ से चयकर नन्दश्री का अभयकुमार नाम का पुत्र उत्पन्न होने वाला है। समुद्र के समान गम्भीर सूर्य के समान तेजस्वी, चन्द्रमा के समान दर्शनीय, कामदेव के समान सुभग, समस्त शास्त्रों में प्रवीण, मांडलिक राजा हो अन्त में जिनदीक्षा ग्रहण करेगा तथा तपस्या पूर्वक शरीर का त्याग कर सर्वार्थसिद्धि में देव उत्पन्न होगा। वहाँ से च्यवकर निर्वाण प्राप्त करेगा इस प्रकार, गौतम् गणधर ने राजा श्रेणिक से सम्यग्दर्शन की महिमा बतलानेवाली कथा कही। सम्यग्दर्शन का प्रत्यक्ष फल देखकर राजा का विश्वास और भी अधिक दृढ़ हो गया। राजा मन ही मन सोचने लगा कि इस जीव का उद्धार सम्यग्दर्शन के बिना नहीं हो सकता। वसुभूति ब्राह्मण सम्यग्दर्शन के प्रभाव से कहाँ से कहाँ पहुँच गया। धन्य है सम्यग्दर्शन की महिमा और धन्य हैं उसके पालन करने वाले। इस प्रकार राजा श्रेणिक विचार करता हुआ सम्यग्दर्शन में दृढ़ हुआ।

द्वितीय—अध्याय

मोक्ष लक्ष्मी के लिये दर्पण के समान, केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये सुन्दर आभूषण के समान सम्यग्दर्शनरूपी रत्न है। यह सुकवियों की कलकण्ठध्वनी से निरन्तर स्तुत्य है इसलिये मैं इसका निरूपण कर रहा हूँ।

यह अनर्घ सम्यग्दर्शनरूपी रत्न संशयरूपी चोर को भगाने में समर्थ है और विश्वास रूपी सांकल के द्वारा मनरूपी वज्र कपाटों को बन्द करने में निपुण है।

मगध सम्राट राजा श्रेणिक ने हाथ जोड़कर भगवान् को नमस्कार करने के अनन्तर अनन्त गुणधारी गौतम गणधर को नमस्कार किया और उनसे निःशंकितअंग की कथा जानने की उत्सुकता प्रकट की।

गौतम गणधर—सम्यग्दर्शन का अष्टांग सहित पालन करना ही कल्याणकारी हो सकता है। जैसे अष्टांग के बिना शरीर अपूर्ण है, उसी प्रकार अष्टांग के बिना सम्यग्दर्शन भी अपूर्ण है। अंगहीन सम्यग्दर्शन पाप मल को दूर नहीं कर सकता है। निःशंकित अंग आँखों में काजल के समान लाभदायक, धान कूटने में मूसल के समान उपकारी, उत्तम घोड़े पर बैठने के लिये असवार के समान, विवाह में मांगलिक गान के समान, शुद्धि और स्वच्छता के लिये दन्तधावन के समान उपकारी है। मिथ्यात्वरूपी बंध को नाश करने के लिये शंकादि दोषों से रहित निर्दोष सम्यग्दर्शन को धारण करना चाहिये। यह सम्यग्दर्शन ही निवृत्ति मार्ग की ओर जीव को ले जाता है।

द्वितीय कथा—निःशंकित अंग की कथा

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में काश्मीर नाम का देश है। इसमें तालाब और कमलों से सुशोभित, जिन मन्दिरों से युक्त विजयपुर नाम का नगर था। इस नगर में इंद्र के समान वैभवधारी, कामदेव के समान सुन्दर, पराक्रमी, भगवान का भक्त, परोपकारी, प्रजावत्सल अरिमते नाम का राजा राज्य करता था।

इस राजा की भगवान् जिनेंद्र के चरणारविन्दों में भ्रमर की तरह घूमने वाली, कमल नयनी, गजगामिनी, सुन्दरी नाम की पट्टरानी थी। इन दोनों को सुख पूर्वक समय बिताते हुए नयनों को आनन्दकारी रूप-सौन्दर्य युक्त ललितांग नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। शिशु को प्राप्त कर माता-पिता आनन्द से फूले नहीं समाते थे। उनका रागभाव पुत्र को प्राप्त कर कई गुना बढ़ गया थां, हृदय की ममत्व वृत्ति अपना विस्तार करने लगी थी। वह कोमल शिशु माता-पिता के आकर्षण और मन बहलाव का केन्द्र था। इसकी बालक्रीड़ाएं माता-पिता को बहुत ही भली मालुम होती थी। राजा अरिमंत पुत्र प्रेम के कारण दरबार में भी कम ही जाते थे। अधिकांश कार्यों को घर पर ही पूरा कर दिया करते थे। रानी सुन्दरी भी उनके कार्यों में सहयोग प्रदान करती थी। किसी-किसी विषय पर पति-पत्नी में काफी विवाद होता था, पश्चात् दोनों एक मत होकर विषय का निर्णय करते थे। दोनों में प्रेम भाव बढ़ता जा रहा था।

ललितांग माता-पिता के असीम स्नेह को पाकर वृद्धिंगत होने लगा उसने विद्या अर्जन भी नहीं की। दिन-रात कुसंगति में पड़कर समस्त व्यसनों का सेवन भी करने लगा। यद्यपि पुत्र का आचरण माता-पिता को कष्ट कर था, पर पुत्र मोह में पड़कर वे उससे कुछ भी नहीं कह सकते थे। अतएव ललितांग का स्वभाव और भी अधिक दुष्ट होने लगा।

इच्छा रहते हुए भी दम्पत्ति ने उसकी चंचलता, धूर्तता, दुष्टता एवं अनीति पूर्ण कार्यों का विरोध नहीं किया बल्कि हंसकर उसे प्रसन्न करने के लिये प्यार ही करते रहे। ललितांग की धूर्तता दिनोंदिन बढ़ने लगी, वह प्रजा को नाना प्रकार का कष्ट देने लगा। वह नगर के लोगों को पकड़ ले आता और गुण्डों से उन्हें पिटवाता और स्वयं दूर खड़ा होकर हंसता था।

जैसे नीम के पत्तों के संसर्ग से पानी कडुवा हो जाता है, उसी प्रकार राजपुत्र ललितांग देव भी दुष्टसंगति से विवेक हीन बन गया था, वह दुराचारी होकर प्रजा को भांति-भांति के कष्ट देता था। ''यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता। एकैकाप्यनर्थाय किमु तत्र यत्र चतुष्टयम्'' की नीति के अनुसार वह सर्वत्रअशान्ति

उत्पन्न करता था। वह किसी को गाली देता, किसी को बाल पकड़ कर खींचता, किसी के ऊपर थूकता, किसी पानी भरने वाली के ऊपर धूल डाल देता, किसी के घड़े को फोड़ देता, किसी की रस्सी कुंए में डाल देता एवं किसी को कान पकड़ कर खींचता, इस प्रकार नगर के नर नारियों को तंग करता रहता था। राज पुत्र होने के कारण कोई भी उससे कुछ नहीं कहता था। उससे नगर वासी इतने परेशान थे कि उसका नाम सुनते ही काँपने लगते। बच्चे ललितांग नाम सुनकर रोते हुए चुप हो जाते थे। स्त्रियाँ उसकी सूरत को देखकर भयभीत हो मूर्छित हो जाती थीं।

ललितांग कभी-कभी मनोविनोद के लिये एक व्यक्ति के सिर को पकड़ कर दूसरे के सिर से टकराता, इस प्रकार दोनों के सिर को फोड़कर शान्त होता। कभी यह अपने साथियों की सहायता से किसी की भद्र महिला की इज्जत आबरू को बरबाद कर देता था, नगर में उसका भय इतना व्याप्त था, कि उसका नाम सुनते ही मानो नगरवासियों की मृत्यु हो जाती थी।

नगर की वेश्याओं को पकड़ कर बलपूर्वक आद्य-देवी के मन्दिर में लाकर नृत्य कराता और रातभर उनका नृत्य देखकर प्रसन्न होता। यदि रास्ते में कोई जाता हुआ मिल जाता तो उसे अपने साथियों से पिटवाता तथा बांधकर पेड़ से लटका देता। उसे मार पीट के कार्यों में अत्यधिक आनन्द आता था। नगर में भिक्षा के लिये घूमनेवाले भिक्षुओं एवं यात्रियों को नाना प्रकार की क्रूरता पूर्वक यातनाएं देता था। इन सबसे कर वसूल करता। उसके उपद्रव विचित्र प्रकार के होते थे, सभी वर्ग के लोग परेशान थे, किसी में इतना साहस नहीं था कि वे ललितांग की शिकायत राजा से कर सकें। शिकायत करते ही उनकी निर्दयतापूर्वक मृत्यु अवश्य ही कर दी जाती थी।

एक दिन वह तैलियों के मुहल्ले में घुस गया। उसके देखते ही मोहल्ले के लोग इस प्रकार भाग गये जैसे मन्त्रवादी को देखते ही भूत, पिशाच भाग जाते हैं, मुहल्ले में जो भी मिला, उसकी खूब मरम्मत की गयी तथा मनों तैल ले जाकर यक्षिणी देवी के मन्दिर में रातभर मसान जलाया। सर्वत्र होलिका—सी जलती

दिखलायी पड़ती रही। कुछ दिनों के उपरान्त वह एक दिन मालियों के मोहल्ले में चला गया और फूलों के बाजार को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। चमेली, जूही, बेला आदि नाना प्रकार के फूलों को छीनकर बाजार में फैला दिया तथा फूल बेचने वालों को पकड़कर खूब पीटा।

माली अपनी जान लेकर इस प्रकार भागे जैसे सिंह के भय से हरिण दौड़ता है। मालियों के घर में घुसकर उसने उनके बर्तन तथा अन्य घर की चीजों को लूट लिया तथा अपने दुर्जन साथियों को बांट दिया और उनसे कहा—तुम इनको ले जाओ इनका स्वयं उपयोग करना। इन नीच जाति के लोगों को लोटा, थाली, गिलास आदि की आवश्यकता नहीं, इनको मिट्टी के बर्तन में भोजन करना चाहिये। इस मोहल्ले से निकल कर वह कलवारों के मोहल्ले में गया और उनकी समस्त मदिरा लूट ली तथा कुछ ऐसे ही बरबाद कर दी। लूट में जो सामान उसे मिला, उसको अपने समस्त साथियों में वितरित कर दिया।

उत्तम वस्त्राभूषणों से सज्जित स्त्रियों को उद्यान में पकड़ कर ले आया और उन्हें नाना प्रकार की यन्त्रणाएं देने लगा। इस प्रकार मनोविनोद करता हुआ ललितांग कपड़ों के बाज़ार में आया। समस्त व्यापारी ललितांग को देखकर डर गये, कुछ तो ऐसे ही डर के मारे भाग गये। ललितांग ने इस बाजार में जाकर बहूमूल्य सुन्दर कपड़ों की लूट करनी प्रारम्भ की, उसने अपने साथियों की सहायता से लाखों रुपये का कपड़ा लूटा। सहस्त्रों रुपये की कीमत के कपड़ों को तो उसने आग लगाकर राख कर दिया। कुछ रेशमी और जरी के वस्त्रों को फाड़ डाला और कुछ वस्त्रों को आपस में बांट लिया।

यहाँ से चलकर ललितांग पुस्तकों (स्टेशनरी) के बाजार में आया। दुकानदार उसे देखते ही भय विह्वल हो प्रार्थना करने लगे कि सरकार हम गरीब हैं, हमारा उद्धार कीजिये, कृपा कीजिये। हमारा जीना-मरना आप ही के हाथ में है। हमारी आजीविका इसी से चल रही है; आप राजकुमार हैं, हमारे अन्नदाता हैं आपसे ही हमारी परवरिश होती है, अत: हमारे ऊपर कृपा अवश्य होनी चाहिये। ललितांग के ऊपर इस प्रार्थना का कुछ भी असर नहीं हुआ, उसका कठोर हृदय बिल्कुल

नहीं पिघला। ललितांग ने अपने साथियों को सामान लूटने का आदेश दिया तथा कांच, मोती आदि के कीमती सामान को तोड़ने -फोड़ने लगा। भय के मारे सभी त्रस्त थे, किसी के मुंह से एक शब्द भी नहीं निकल रहा था। इधर-उधर भगदड़ मची हुई थी। कोई किसी को नहीं पूछता था। अपनी रक्षा के लिये एक दूसरे को पुकार रहे थे, पर कोई भी किसी की रक्षा नहीं कर सकता था। धनी-मानी व्यापारियों को पकड़ कर पीटा जा रहा था तथा मनोविनोद के लिये उन्हें नाना प्रकार की यन्त्रणाएं दी जा रहीं थीं।

ललितांग का भय इतना व्याप्त था कि नगर के सभी नर-नारी अपना-अपना काम-धाम छोड़ जान बचाने के लिये छुपे हुए बैठे थे; और जिधर से ललितांग की आवाज आती उधर ही कान खड़े कर देखने लगते। ललितांग सदा धूर्त, व्यसनी और कामुक साथियों को एकत्रित कर स्त्रियों की चर्चा किया करता था। वह कहता था कि आज अमुक मोहल्ले के अमुक व्यक्ति की युवती लड़की या बहू को आज रात को सोते उठाकर लाना है। इस प्रकार आपस में चर्चा कर नगर में घुस जाते और स्त्रियों को तंग करने लगते। बच्चों को मारते-पीटते तथा बच्चों के पटकने में विशेष आनन्द लेते थे। ललितांग के मारे सारा नगर त्रस्त हो गया। सर्वत्र कोलाहल ही सुनाई पड़ता था। नगरवासियों की दुर्दशा का वर्णन करना शक्ति से बाहर की बात है।

एक दिन ललितांग वेश्याओं के मोहल्ले में अपने साथियों के साथ चला गया, और वहाँ किसी कुट्टिनी के घर में घुस गया। कुट्टिनी ललितांग को आया जानकर भय से विह्वल हो गयी और अपना होश-हवास खो बैठी, जिससे वह अपने दामाद को ही लड़की समझकर अन्धेरे में अपने साथ लेती गयी तथा जल्दी-जल्दी दौड़ने के कारण वह घर के पीछे, जहाँ कूड़ा-कचरा इकट्ठा किया गया था, उसी घूरे के गड्ढे में गिर गयी। दूसरे घर के लोगों ने जब ललितांग के आने का समाचार सुना तो स्त्री पुरुष सभी भागने लगे। स्त्रियां बेहताश हो इस प्रकार भागी कि उन्हें खम्भों में लगे शीशों में अपना ही प्रतिबिम्ब ललितांग दिखलायी पड़ा। अतः वे नमस्कार करती हुई कहने लगी—राजन् कृपा कीजिये, धर्मावतार हमने कोई अपराध नहीं किया है। आप प्रजा रक्षक हैं, हम अबलाएं आपकी शरण में हैं। हमने न

कोई गलती की है और न आगे गलती करेंगी। हे राजन् प्रसन्न हो जाइये, आपकी हम शरणागत हैं। राजा प्रजा के लिये पिता तुल्य होता है, आप हमारे पिता हैं कृपा करें, कृपा करें।

पास के घर में एक नव दम्पत्ति सोये हुए थे। जब बाहर ललितांग के आने का हल्ला सुनाई पड़ा तो स्त्री बेचारी देखने के ख्याल से बाहर क्या हो रहा है, किवाड़ खोलने लगी। इतने में अर्धनिद्रित पति भी उठा और बाहर की ओर दौड़ा। पति ने अपनी पत्नी को ही चोर समझ पकड़ लिया और उसके बाल पकड़ कर खींचने लगा और जोर-जोर से कहने लगा—हे चोर तूने मुझे क्या नामर्द समझ लिया है, क्या तुम बकरी होकर बाघ के यहाँ आये हो। तुमने गरीबों को बहुत सताया है, आज मेरे हाथ आये हो ललितांग। इस प्रकार बकते हुए स्त्री को पीटने लगा। स्त्री बेचारी चिल्लाने लगी और अपनी रक्षा की प्रार्थना पति से करने लगी तथा अपना परिचय देने लगी। पत्नी को पहचान कर पति बहुत लज्जित हुआ।

सभी नगर निवासी ललितांग की कार्यवाहियों से तंग आकर विचार करने लगे कि कब तक इस प्रकार के अत्याचारों को सहन किया जायगा। राजकुमार ने नगर को आतंकित कर दिया है, इसके लिये कुछ उपाय अवश्य करना होगा। राजपुत्र अशिक्षित और धूर्त है, यह मद से विह्वल है, इसके अत्याचारों से बचने के लिये उपाय करना आवश्यक है। सभा में एकत्रित सभी ने एक स्वर में कहा कि स्वप्न में भी ललितांग का भय नगर को त्रस्त किये है। यहाँ किसी को भी एक क्षण के लिये शांति नहीं। जान माल सभी अरक्षित है, ऐसे राज्य में रहने से कोई लाभ नहीं। अतः सबने मिलकर प्रस्ताव पास किया कि सभी ललितांग की शिकायत एक साथ मिलकर राजा से करें और राजा को उसे दण्ड देने के लिये बाध्य करें। ललितांग के स्मरण मात्र से ही नागरिकों की आँखों से आँसू निकलने लगते थे, होंठ सूख जाते थे, रोमांच हो आते थे। इस प्रकार सभी एक मत हो राजदरबार में आये और राजा से प्रार्थना करने लगे।

कुछ चतुर नागरिक—राजन्! आपका पुत्र निरंकुश हाथी की तरह हम नगरवासियों को कुचल रहा है, पग-पग पर हमें कष्ट दे रहा है। कुमार की लीलाओं का कथन करने से हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। हमारा जीवन कीड़े

मकोड़े के समान नष्ट किया जा रहा है, हमारी बहू-बेटियों की अस्मत लूटी जा रही है। नगर में गुंडई का बोलबाला है। धर्मावतार! राजपुत्र के दुष्कृत्यों का वर्णन करने की शक्ति हम में नहीं है। प्रभो! अब तो हम आपकी शरण हैं, आप चाहे हमारी रक्षा करें, चाहे न करें। राजकुमार ने सभी के घर-द्वार को लूट लिया है, दुकानों के सामान को तोड़-फोड़ डाला है। नगर में आग लगादी है। अनेक लोगों की हड्डी-पसली तोड़ दीं हैं, अनेकों की खाल खींचली है, बहुतों को कोल्हू में पेल दिया है। प्रजा बहुत त्रस्त है। इस समय नगर में ऐसा एक भी व्यक्ति न मिलेगा, जिसे राजकुमार ने कष्ट न दिया हो। बाल, बच्चे, बूढ़े, नर, नारी सभी को नाना प्रकार की यातनाएं दी गयी हैं। महाराज आप हमारे स्वामी हैं, अब आपको छोड़ के हम किससे अपना दुःख कहें। रात को सोना हराम हो रहा है, हम लोग इधर एक महीने से नहीं सो सके हैं। कुंओं से स्त्रियां पानी भरने नहीं जा सकती हैं, अतः अनेक घरों में लोग प्यासे मर रहे हैं। हे राजन् रक्षा करें, रक्षा करें।

प्रजा की इस दुःख गाथा को सुनकर राजा अरिमत को महान् कष्ट हुआ। पुत्र के निन्द्य कृत्यों से उसके हृदय को मर्मान्तक पीड़ा हुई। राजा ने प्रजा को सम्बोधित कर कहा—आप लोग जायें, आनन्द पूर्वक अपने-अपने कार्यों को करें। मेरे रहते हुए आप लोगों को कष्ट नहीं हो सकेगा। आपके दुःख को दूर करने का उपाय तुरन्त किया जायगा। आप लोग अब भय छोड़ दीजिये, शान्ति और अमन चैन से रहिये। इस प्रकार प्रजा को समझाकर राजा ने पान, सुपारी, कर्पूर आदि से प्रजा सत्कार किया और समझा-बुझाकर प्रजा को घर भेज दिया। प्रजा के चले जाने पर राजा ने प्रधान अमात्य और पट्ट महिषी को बुलाया और कहने लगा—

जैसे दुर्योधन की संगति से कर्ण, शकुनि और दुःशासन की बरबादी हुई, उसी प्रकार दुष्टों की संगति से यह ललितांग भी भ्रष्ट हो गया है। आप लोग भी जानते होंगे कि संगति का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है—

जिस प्रकार सूअर की संगति से गाय का बछड़ा मल भक्षण करने लगता है, उसी प्रकार राजकुलोत्पन्न यह ललितांग दुष्टों की संगति से बिगड़ गया है। नदी का मीठा पानी समुद्र में मिलने से खारा हो जाता है, उसी प्रकार सत्पुरुष भी

दुष्टों की संगति से सर्वनाश को प्राप्त हो जाते हैं। शीतल जल जैसे अग्नि के संसर्ग से गर्म हो जाता है, उसी प्रकार ललितांग भी दुष्ट संगति से खराब हो गया है। कहावत भी प्रसिद्ध है कि संगति से ही गुण उत्पन्न होते हैं और संगति से ही गुण विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। अत: ललितांग का सर्वनाश भी कुसंगति के कारण ही हुआ है। प्रजा को इसने इतना बड़ा कष्ट भी कुसंगति के फेर में पड़कर ही दिया है। जो राजा प्रजा का रक्षक है, न्यायकर्ता हैं; वही यदि प्रजा पीड़क हो जाय तो फिर संसार का उद्धार कभी नहीं हो सकता। ललितांग के दुष्कृत्य सर्वथा निन्द्य और लज्जास्पद हैं, उसे सन्मार्ग पर कैसे लाया जाय तथा उसकी दुष्प्रवृत्तियां कैसे दूर हों, इसका उपाय करना चाहिए।

सन्तान कुसंगति को प्राप्त होकर असन्मार्ग (कुमार्ग) की ओर जाती है, इसका भी मूल कारण माता-पिता ही है। यदि प्रारम्भ से माता-पिता अपनी सन्तान की देखभाल रखें तो फिर सन्तान कभी कुमार्ग की ओर जा ही न सके। ललितांग बिगड़ गया है, सप्त व्यसनों का सेवन करता है, इसमें भी दोष हमारा ही है, कुमार का नहीं। मोह के कारण हमने उसे शिक्षा नहीं दी, जिससे सत् शिक्षा न मिलने से वह बिगड़ गया है, इसमें अन्य किसी का अपराध नहीं है।

यदि हम इसे मुनियों के पास ले जाते, वहाँ यह उनका उपदेशामृत सुनता तो इसके संस्कार दृढ़ हो जाते और यह कुमार्ग का पथिक नहीं बनता। अच्छे संस्कारों के न पड़ने से अन्य लोगों की संगति के कारण ही इसकी यह दशा हुई है।

जो माता पिता ज्यादा मोह के कारण सन्तान को अशिक्षित रख लेते हैं तथा लाड़ प्यार में अधिक रखते हैं, उनकी सन्तान अवश्य ही कुमार्गगामी बन जाती है। कहावत भी है कि "माताशत्रु पिताबैरी ये न बालो न पाठित:" अर्थात् जो माता-पिता अपनी संतान की शिक्षा का प्रबन्ध नहीं करते हैं, वे शत्रु हैं। उनके द्वारा सन्तान का हित नहीं हो सकता है, बल्कि सन्तान दिनोंदिन बिगड़ती जाती है।

खाद के बिना उत्पन्न हुआ धान्य, बिना शिक्षा का पुत्र और असमय की तपस्या कभी भी सफल नहीं हो सकती। "पुत्रं च शिष्यं च ताडयैत्" पूर्वाचार्य

की इस उक्ति का उल्लंघन न करते हुए पुत्र को सदा शिक्षित बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार विचार करते हुए राजा ने ललितांग को हाथ पकड़ कर पास बैठा लिया और उसे उपदेश देने लगा।

पृथ्वी की रक्षा करना, दुष्टों का निग्रह और शिष्टों का संरक्षण करना, सद्धर्म की रक्षा करना, धूर्तों, लुटेरों और चोरों को देश से बाहर निकाल देना, प्रजा का सब प्रकार से संरक्षण करना, अनीति और कुमार्ग का त्याग करना, शरणागत की रक्षा करना एवं व्यसनों का त्यागना ही क्षत्रियों का कर्तव्य है। क्षत्रिय शब्द का अर्थ यह है कि जो पीड़ितों की रक्षा करें वे क्षत्रिय होते हैं। क्षत्रिय कभी भी निरपराधियों की जान नहीं लेते हैं।

जैसे बालक के सुख के लिये मां सभी प्रकार के कष्ट स्वयं सहन करती है, सुख की कामना करने वाला जैसे चारित्र और शील की रक्षा करता है, उसी प्रकार पुत्रवत् प्रजा का पालन करना राजा का कर्तव्य है। जो राजा अपनी प्रजा को प्राणों के समान नहीं समझता है, वह राजा अत्यन्त क्षुद्र और नीच है। ऐसे राजा का राज्य शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है।

चन्द्रमा जैसे किरणों से युक्त होने पर शोभित होता है, सूर्य प्रकाश से युक्त होने पर शोभता है उसी प्रकार राजा भी प्रजा का हित करने पर शोभता है। जो राजा प्रजा को सन्तुष्ट नहीं कर सकता है, वह राजा कर्तव्यच्युत और पापी माना जाता है। राजा का परम कर्तव्य है कि वह प्रजा की सब प्रकार से देखभाल करे, उसके सभी कष्टों का निवारण करे। जो राजा अभिमान में आकर प्रजा के हितकार्यों को सम्पन्न नहीं करता है, वह नराधम है। नीतिकारों ने भी बतलाया है कि वह राजा नरक का पात्र होता है, जो प्रजा के भूखे रहने पर स्वयं भोजन करता है तथा प्रजा के दुःखी होने पर स्वयं आनन्द का उपभोग करता है। उसी व्यक्ति का संसार में राजा होना उचित है जो अपनी सन्तान के समान प्रजा का पालन करता है। राजा और प्रजा में केवल अधिकार का भेद है, यह अधिकार तभी प्रकट होता है जब अवसर आने पर राजा प्रजा के हित के लिये अपने स्वार्थों का उत्सर्ग कर देता है।

पूर्व जन्म के महान पुण्योदय से राज-पदवी मिलती है। जो निर्बुद्धि इस महत्त्वपूर्ण पद को प्राप्त कर अपने कर्तव्य से च्युत हो जाते हैं, वे अत्यन्त निन्द्य हैं। इस पदवी को प्राप्त कर अपना हितसाधन करने के साथ-साथ प्रजा की भलाई सभी प्रकार से करना आवश्यक है। प्रजा उसी राजा को अपने पिता तुल्य समझती है जो उसकी सब प्रकार से सहायता करता है।

राजा ने कुमार को पुनः सम्बोधित कर कहा—कुमार संगति का प्रभाव सभी पदार्थों पर पड़ता है। जड़ चेतन सभी पदार्थ सत्संगति और कुसंगति से बनते बिगड़ते हैं। यद्यपि जड़ में अनुभव करने की शक्ति नहीं, फिर भी उसके ऊपर संगति का असर पड़ता है।

जैसे चन्द्रमा के उदय होने पर तारागण प्रकाशित होते हैं, किन्तु सूर्य के उदय होते ही उनका प्रकाश लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार तीव्र कर्मोदय से दुष्ट संगति में पड़ जाने से मनुष्य का विवेक लुप्त हो जाता है। अतएव अब तुम्हें दुष्टों को दण्ड देकर धर्मात्मा व्यक्तियों का संरक्षण करना चाहिये। तुम मेरे कुल के उज्ज्वल प्रकाश हो, इस साम्राज्य के स्वामी हो, प्रजा के संरक्षण का भार तुम्हारे ऊपर है अत: अब तुम्हें दुष्टों को दण्ड देकर निर्दोष प्रजा की रक्षा करनी चाहिये। शिक्षा के अभाव से अबतक जो हुआ सो हुआ; किन्तु आज से आप अहंकार, दुष्ट संगति, उपद्रव, अत्याचार आदि दुर्गुणों को छोड़ प्रजा के कल्याण में तत्पर हो जाइये। राजपुत्र होकर तुम्हें ऐसे नीच कृत्य नहीं करने चाहिये। यदि रक्षक ही भक्षक बन जाय तो फिर संसार किस प्रकार चले, धर्म-कर्म का निर्वाह कैसे हो? जरा अपने कुल, वंश, कर्तव्य के सम्बन्ध में विचार करो। राजपुत्र होकर निन्द्य कृत्य करना, दुष्टों की संगति में रहकर नितप्रति उपद्रव करना, प्रजा को सब प्रकार से त्रास देना, कहाँ तक उपयुक्त है? तुम जैनधर्म में उत्पन्न हुए हो, तनिक विचारो यह धर्म कितना कल्याणप्रद और उद्धारकारक है?

जैनधर्म शुद्ध, निर्मल स्फटिक मणि के समान है, इसके धारण करने से आत्मा का कल्याण अवश्य हो जाता है, अत: अब आप पापानुराग को छोड़ अपने कर्तव्य पालन में लग जाइये। दुष्टों के साथ रहने से वंश, धर्म, पद सभी कलंकित होते

हैं। कुमार! तुम समझदार हो, राजघराने में उत्पन्न हुए हो, पवित्र जैनधर्म तुम्हारा वंशानुगत धर्म है। जो व्यक्ति इस धर्म को धारण कर लेता है, उसकी आत्मा इतनी पवित्र हो जाती है जिससे उसकी पापाचार की ओर प्रवृत्ति ही नहीं होती। मैं आपको अधिक क्या समझाऊँ, आप पाप प्रवृत्ति छोड़कर धर्माचरण में लग जाइये। आज से मेरी कसम खाइये कि कुसंगति में न जाइयेगा। तुम हमारे कुलदीपक हो, तुम्हें प्राप्त कर हमारा कुल धन्य हुआ, अतः अपने कुल की लज्जा का निर्वाह करने के लिये कुकृत्य का त्याग तुम्हें आज से कर देना चाहिये। हमारे घर में किस बात की कमी है जिससे लूट-पाट कर धन तुम लाते हो? पुत्र, संसार उन्हीं का गुणगान करता है, जो प्राण रहते हुए अन्य लोगों का उपकार करते हैं। इस प्रकार प्रेम पूर्वक समझाकर कुमार को सुस्वादु भोजन और रत्नहार अर्पित किये तथा राजा ने स्नेहाश्रुओं से कुमार के मस्तक को आर्द्र कर दिया।

जिस प्रकार नारियल के पेड़ को किसी लकड़ी के सहारे बांध देने पर सीधा हो जाता है; पर पीछे वह फिर टेढ़ा हो जाता है तथा कुत्ते की पूंछ को थोड़ी देर के लिये भले ही सीधी कर लिया जाय, किन्तु थोड़े समय में वह फिर ज्यों की त्यों हो जाती है, इसी प्रकार कुमार भी जब तक राजा के पास रहा ठीक रहा, किन्तु वहाँ से हटते ही उसकी दुष्प्रवृत्तियां पुनः उद्बुद्ध हो गयीं। उसने अपने पुराने साथियों को संघटित किया और सभी एकत्रित हो नगर में लूट-पाट मचाने लगे। नगरी की युवतियों की इज्जत लूटने, सम्भ्रान्त परिवारों को सताने एवं जलाशयों के जल को विषैला बनाने में उन्हें अपूर्व आनन्द आता था। छोटे-छोटे बच्चों को कत्ल कर देना, बुड्ढों को धक्के देकर मार डालना उनके लिये अत्यन्त सरल था।

जब राजा अरिमत को यह समाचार मिला तो उसे बहुत क्रोध आया और ललितांग को बुलाकर उसने कहा अरे कुमार! जैसे दूध पिलाने पर भी सांप विष ही उगलता है, उसी प्रकार तुम मेरे उपदेशामृत के बाबजूद भी अपनी पुरानी हरकतों से बाज नहीं आये। अग्नि का छोटा-सा कण जैसे हवा के झोंके से तेज हो जाता है, उसी प्रकार तुम भी बाहर निकलते ही पुनः दुष्टों के चक्कर में आ गये।

झूठी प्रतिज्ञाएं करने वाले तुम जैसे मक्कार पुत्र को राज्य देने से क्या लाभ? तुमने मेरी अन्तरात्मा को बड़ा भारी कष्ट दिया है; अब तुम्हें अत्याचार और उपद्रव करने का दण्ड मिलना चाहिये। जिस प्रकार अच्छे कोयले को भी हाथ में लेने से हाथ काला हो जाता है, उसी प्रकार दुर्जन को उपदेश देने पर भी वह दुष्टता ही करता है। दुर्जन संसर्ग से तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। अतएव तुम जैसे निकम्मे पुत्र का मैं मुंह नहीं देखना चाहता हूँ, तुम मेरे सामने से निकल जाओ। अब तुम्हें मेरे राज्य में रहने की आवश्यकता नहीं। तुम जैसे पापी के रहने से मेरे राज्य का सर्वनाश हो जायगा। जल्दी मेरी आँखों से ओझल हो जाओ। आज से तुम्हें देश निकाला दिया जाता है, यदि कहीं भी मेरे राज्य में तुम पाये गये तो उसी समय तुम्हें प्राणदण्ड दिया जायगा।

ललितांग पिता के क्रोध पूर्ण वचनों को सुनकर सहम गया। वह डरता हुआ मां के पास पहुँचा और नम्रता पूर्वक मां से कहने लगा—मेरी स्नेहमयी मां! पिताजी ने मुझे देश निकाला दे दिया है अब तो आप ही मेरी रक्षा कर सकती हैं। पिता के क्रोधानल से बचाने की शक्ति आप में ही है। आपकी जिस स्नेहमयी गोद में मैंने आनन्द से बचपन बिताया, युवावस्था को प्राप्त हुआ, क्या अब उस गोद में मुझे स्थान नहीं मिलेगा?

मां—पुत्र तुम नहीं जानते तुम्हारे पिता तुम्हें कितना स्नेह करते हैं। उन्होंने तुम्हें कितना समझाया। तुमने भरी राजसभा में उपद्रव और अत्याचार न करने की प्रतिज्ञा भी ली किन्तु तुमने उस प्रतिज्ञा का चार छः दिन भी पालन नहीं किया। पिता के प्रेमपूर्ण समझाने का तुम्हारे ऊपर कुछ भी असर नहीं हुआ। अतएव अब इस राज्य में तुम्हारे लिये स्थान कहाँ है? तुम जैसे अत्याचारी पुत्र का होना ही हमारे लिये लज्जा की बात है। मेरे उदर से जन्म लेकर तुमने मुझे भी निन्दनीय बनाया। तुम कुल के लिये कलंक हो, यदि तुम उत्पन्न न होते तो कुल में दाग नहीं लगता। बन्ध्या को जीवन में एक बार ही दुःख का अनुभव होता है, किन्तु दुष्ट पुत्र उत्पन्न करने वाली को पग-पग पर दुःख भोगना पड़ता है। तुम्हारे लिये कल्याण इसी में है कि तुम अविलम्ब यहाँ से चले जाओ। जितना जल्दी हो सके राज्य से बाहर हो जाओ।

जिस प्रकार शीतल जल सूर्य की किरणों के संयोग से गर्म हो जाता है, उसी प्रकार तुम दुष्ट संगति से बिगड़ गये हो। यदि अब भी तुम अपना कल्याण चाहते हो तथा अपनी दुष्टताओं को छोड़ सकते हो तो तुम्हारे लिये एक ही रास्ता है कि तुम अपने पिता के पास जाकर क्षमा याचना करो।

मां के इन वचनों को सुनकर ललितांग को क्रोध आ गया और वहीं गालियां देने लगा। मां ने इस पर भी पुत्र-प्रेम से प्रेरित होकर ललितांग को समझाया—विनय पूर्वक मां-बाप की आज्ञा न मानने से तथा दिन रात दुष्टों की संगति में रहने से तुम्हारी बुद्धि पर पर्दा पड़ गया है, इसी कारण तुम्हें हित के वचन अच्छे नहीं लगते हैं।

माता के इन वचनों ने ललितांग को और भी कटीले वृक्ष के समान दुःखदायी बना दिया। मदिरा पान किये हुए के समान वह मां-बाप को ही गालियां बकने लगा। क्रोधाभिभूत हो वह देश छोड़कर नेपाल देश में आया।

जिस प्रकार गंजेड़ी और शराबी, गंजेड़ियों और शराबियों में मिल जाते हैं, विष विष में मिल जाता है, उसी प्रकार ललितांग अपने धूर्त साथियों के साथ धूर्तों में मिल गया और चोरी करने लगा। चौर्यकला में इसने अत्यन्त ख्याति प्राप्त की; जिस कार्य को कोई नहीं कर सकता था, उसे ललितांग करता था। इसने चोरी में सफलता प्राप्त करने के लिये अंजनवटी विद्या को सिद्ध किया, जिससे अदृश्य होकर मनमानी वस्तुओं को चुरा लाता था। अंजनवटी विद्या के कारण सर्वसाधारण में यह अंजन चोर के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। देश-देशान्तरों में भ्रमण कर अपनी विद्या के बल से सहस्त्रों रुपयों का माल चोरी में लाने लगा। यह सदा चोरी करना, जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरा पान करना, शिकार खेलना, वेश्या गमन करना, परस्त्री सेवन करना आदि सातों व्यसनों का सेवन करने लगा। सदाचार और धर्म-कर्म को भूल कर निरन्तर दुराचार में ही प्रवृत्त रहने लगा। धूर्त, चोर, शराबी, डाकू आदि अनाचारियों के साथ रहकर मनमाना पाप करने लगा।

कुछ दिन पश्चात् नाना देशों में भ्रमण करता हुआ ललितांग अपने साथियों के साथ राजगृह नगर में आया। इस नगरी की अप्रतिम सौन्दर्यशाली अनंग सुन्दरी

नाम की वेश्या को देखकर मोहित हो गया और वहीं पर रहने लगा। वेश्या की इच्छा पूर्ति के लिये वह रातभर चोरी कर सामान लाता और दिन को वेश्या के घर में ही पड़ा रहता। उसके द्वारा चोरी में लाये हुये सामान से थोड़े ही दिनों में वेश्या का घर भर गया। अनंग सुन्दरी इतने महान् चोरी के द्रव्य को देखकर आश्चर्य में पड़ गयी। वह मन में सोचने लगी—इतना वैभव इंद्र के यहाँ भी नहीं होगा, किसी राजा महाराजा चक्रवर्ती के यहाँ भी इतनी विपुल धन-राशि नहीं हो सकती है। मेरा यह पति महान् है, ऐसा व्यक्ति त्रिलोक में भी नहीं होगा। मेरे घर में देश-विदेश की सारी विभूतियां एकत्रित हैं। मुझे किसी भी वस्तु का अभाव नहीं है। मैं चाहूँ तो इतने धन से राज्य खरीद सकती हूँ। वेश्या ने ललितांग की खूब प्रशंसा की और उसे बातों में इस प्रकार फंसा लिया जिससे चोरी करने की विधि, चोरी करने के स्थान आदि को अपने वाक्जाल द्वारा सहज में ही अवगत कर लिया। ललितांग की बातों ने अनंग सुन्दरी को आश्चर्य में डाल दिया। चोरी करने की विधि, स्थान तथा साहस आदि को सुनकर वह मुग्ध हो गयी।

दूसरे दिन राजगृह का नृपति अपने परिवार सहित जल क्रीड़ा के लिये जा रहा था। रानी हाथी पर बैठकर राजा के साथ जा रही थी। उसके गले में ज्योतिप्रभा नामक नीलमणियों का हार चमक रहा था। जब वेश्या की दृष्टि रानी के गले के हार की ओर गयी तो वह उसे देखकर ललचा गयी और उसे पाने के लिये लालायित हो उठी। उसने मन में विचार किया कि मेरा पति अंजनचोर अपनी विद्या के बल से इस हार को लाने में सर्वथा समर्थ है, अत: इसके प्राप्त करने में मुझे कुछ भी देर नहीं है। जब वह आयेगा तब मैं नाज नखरे के साथ कहूँगी कि यदि आपका मेरे ऊपर सच्चा प्रेम है तो हार लाकर दीजिये। जब तक हार मेरे गले में नहीं पड़ेगा, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगी।

अंजनचोर जब ग्रामान्तर से लौट कर आया तो वेश्या ने कटाक्ष करते हुए कहा कि यह महिषी के गले का ज्योतिप्रभा नामक हार आप लाकर तुरन्त दीजिये, अन्यथा मैं अनशन कर अपने प्राण दे दूँगी।

अंजनचोर—अरी पगली! तुझे क्या मेरे प्राणों से मोह नहीं। इस हार का लाना

मेरे लिये असंभव है, राजा के यहाँ कड़ा पहरा रहता है। पहरेदार रातभर जागते रहते हैं। चोरी के लिये जाते ही पकड़ा जाऊँगा और मुझे फांसी का दण्ड भोगना पड़ेगा। क्या तुम्हें मेरे जीवन की तनिक भी परवाह नहीं? मैं दूसरी जगह से किसी सेठ साहूकार के यहाँ से इससे भी बढ़िया हार तुम्हारे लिये ला दूँगा। तुम्हें दुःख करने की आवश्यकता नहीं है।

अंजनचोर की बातों को सुनकर वह अपना सिर पीटने लगी और एक छोटी-सी खटिया पर पड़कर स्त्रियोचित नखरे करने लगी। उसने भोजन, स्नान, जल आदि का त्याग कर दिया और ललितांग को खोटी खरी बातें सुनाने लगी। मैंने अपनी मां की बात न सुनकर तुम्हें पति चुना, पर तुम एक छोटे से काम से घबराते हो। अब मैं जीवित रह कर क्या करूँगी?

वेश्या की इस फटकार को सुनकर अंजनचोर घबरा गया और उसके पैर पकड़ कर बोला—प्रिये! चांदनी में विद्या का प्रयोग नहीं होता, कृष्णपक्ष की अष्टमी आने दो अवश्य तुम्हें रानी का हार लाकर सौंप दूँगा। इस छोटी-सी बात के लिये इतनी नाराज क्यों हो रही हो। तुम्हारे लिये मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ। थोड़े दिन तक धैर्य धारण करिये। ललितांग की इस प्रार्थना को सुनकर भी वेश्या अपनी हठ से विरक्त नहीं हुई, अतः उसे उसी दिन आंख में अंजन लगाकर हार चुराने के लिये जाना पड़ा। विद्या के बल से छिपकर ज्योतिप्रभा हार को अपने हाथ में ले लिया।

ज्योतिप्रभा हार में लगी हुई मणियों का प्रकाश इतना अधिक था, जिससे वह हार छिप न सका। उस हार के प्रकाश की चकाचौंध ने कोतवाल के ध्यान को आकृष्ट किया और उसने हल्ला मचा दिया तथा प्रकाश की दिशा की ओर पकड़ने को दौड़ा। चांदनी रात के कारण अंजन गुटिका भी अपना पूरा प्रभाव नहीं दिखला सकी, जिससे कोतवाल उसके पीछे दौड़ने लगा। जब अंजनचोर ने कोतवाल को पीछे आते हुए देखा और अपनी विद्या को निरर्थक देखा तो हार को फेंक दिया तथा जी तोड़ दौड़ने लगा। वह नगर की चहारदीवारी को लांघ कर श्मशान भूमि की ओर बढ़ा। वहाँ पर वृक्ष के नीचे दीपक जलते हुए देखकर वह उस पेड़ के

नीचे पहुँचा और ऊपर की ओर देखने लगा। वहाँ पर एक 108 रस्सियों का सींका लटक रहा था, उसके नीचे अस्त्र, भाला, बर्छा, तलवार, फर्सा, मुद्गर, शूल, चक्र आदि 2 प्रकार के अस्त्र गाड़े गये थे। एक व्यक्ति वहाँ पूजा कर णमोकार मंत्र पढ़ता हुआ एक-एक रस्सी काटता जाता था। प्रत्येक रस्सी काटने के बाद वह भय से नीचे की ओर देखता जाता था, क्योंकि अस्त्र पर गिरने से मृत्यु हो जाने का डर था। अंजनचोर ने उससे पूछा तुम कौन हो? तुम्हारा नाम क्या है?

वह बोला—मेरा नाम वारिषेण है। मैं गगन गामिनी विद्या को सिद्ध कर रहा हूँ। मुझे यह मन्त्र जिनदत्त श्रेष्ठि से मिला है। अंजनचोर उसकी बातों को सुनकर हंसने लगा और बोला—तुम्हें सम्यक्त्वचूड़ामणि, गुणज्ञ जिनदत्त सेठ के वचनों पर विश्वास नहीं है। तुम डरते हो, मालूम होता है कि विद्यासिद्धि में तुम्हें शंका है। इस प्रकार कह कर अंजनचोर विचारने लगा कि मुझे तो मरना ही है, जैसे भी मरूँ? अत: जिनदत्त सेठ के वचनों पर विश्वास कर मन्त्रोच्चारण करते हुए स्वर्ग जाना अच्छा है। कोतवाल यदि पकड़ लेगा तो फांसी हो ही जायगी, अत: नरक जाने की अपेक्षा स्वर्ग जाना श्रेष्ठ है। दयानिधि जिनदत्त सेठ के वचन अन्यथा नहीं हो सकते हैं। जिनदत्त सेठ ने आज तक किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं दिया है, अत्यन्त धर्मात्मा, ज्ञानी और विवेकी है। वह कभी भी झूठ नहीं बोल सकता है; अत: मुझे उसकी बातों पर विश्वास करना चाहिये। इतना विचार कर अंजनचोर ने वारिषेण से कहा—भाई आपको मन्त्र पर विश्वास नहीं है तो आप उसे मुझे दे दें, मैं इसे सिद्ध कर लूँगा। वारिषेण प्राणों के मोह में पड़ कर घबरा गया और जिनदत्त सेठ के द्वारा बताई हुई विधि पूर्वक उस मंत्र को अंजनचोर को दे दिया। अंजनचोर ने अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के साथ उस मंत्र को सुना और उसकी साधना करने लगा। उसने सबसे प्रथम जिनदत्त सेठ को निर्मल मनसे प्रणाम किया और अटल विश्वास पूर्वक नमस्कार मन्त्र का उच्चारण करने लगा।

सींके पर चढ़कर मन्त्रोच्चरण पूर्वक वह रस्सियां काटने लगा। उसके मन में अपूर्व साहस, दृढता और धैर्य था। अन्तिम रस्सी के कटते ही जैसे ही वह अस्त्रों के ऊपर गिरने वाला था कि विद्या देवता ने आकर उसको ऊपर ही उठा लिया और कहा तुम्हें क्या चाहिये? मुझे आज्ञा दीजिये, मैं प्रस्तुत हूँ।

ललितांग उर्फ अंजनचोर—मैं जिनदत्त सेठ के दर्शन करना चाहता हूँ, मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये।

जिनदत्त सेठ उस समय सुमेरु पर्वत पर स्थित नन्दन और भद्रशाल वन में जिनेन्द्र प्रभु की पूजा कर रहा था। अंजनचोर सुमेरु पर्वत पर स्थित इस चैत्यालय को देखकर आश्चर्य में पड़ गया। यहाँ पर नाना प्रकार के फूलों के गुच्छे, अशोकवृक्ष, चन्दनवृक्ष आदि से युक्त वन सुशोभित था। फूलों के ऊपर भ्रमर गुंजार कर रहे थे तथा नाना प्रकार के पक्षी चहचहा रहे थे। मलयानिल पुष्पों की सुगन्ध को लेकर बह रही थी। विद्याधर अपनी पत्नियों सहित विहार कर रहे थे। ललितांग इस वन के सुन्दर मनोहर प्राकृतिक दृश्यों को देख कर आनन्द पूर्वक विहार करता हुआ मुग्ध हो गया।

चैत्यालय में सब जगह स्फटिक मणियाँ लगी हुई थीं, सोपान वज्र का बना हुआ था, दरवाजे में वैडूर्य मणियाँ जटित थीं, वज्र के किवाड़ और सूर्यकान्त मणि की चौखट बनायी गयी थी, पद्मराग मणियों के कलश, मरकत मणियों के तोरण और मोतियों की झालर लगी हुई थी तथा जिन बिम्ब माणिक्य और हीरे के थे।

जिस समय अंजनचोर ने उस मन्दिर में प्रवेश किया, उस समय जिनदत्त सेठ अष्टद्रव्यों से भगवान् जिनेन्द्र की पूजा कर रहा था। अंजनचोर जिनदत्त सेठ के चरणों में नमस्कार करने लगा। जिनदत्त सेठ उसे देखते ही विचारने लगा कि इस दुराचारी, पापी को आकाशगामिनी विद्या कैसे प्राप्त हो गयी?

सेठ—आपको यह आकाशगामिनी विद्या कैसे प्राप्त हो गयी?

अंजनचोर—हे श्रेष्ठिवर्य! आपकी कृपा का ही यह फल है। जो जिनेन्द्र भगवान् के वचनों पर अटूट श्रद्धा रखता है, संसार में उसके लिये कुछ भी असाध्य नहीं है। मैंने कुसंगति में पड़कर नाना पाप किये, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांचों पापों का सेवन किया; पर एक बार ही जिनेन्द्र प्रभु के वचनों का दृढ़ श्रद्धान करने से मुझ जैसे पापी को भी यह श्रेष्ठ विद्या प्राप्त हो गयी। जिनेन्द्र प्रभु अनन्त शक्तिधारी हैं, जो इनकी भक्ति करता है, उसका संसार से

अवश्य उद्धार हो जाता है। मैंने यह निश्चय कर लिया है कि जिनेन्द्र भगवान् ही सच्चे देव हैं, वे ही वीतरागी, हितोपदेशी और सर्वज्ञ हैं। मैंने आपके वचनों का विश्वास कर पञ्चनमस्कार मन्त्र की आराधना की जिससे मुझे यह आकाशगामिनी विद्या प्राप्त हुई है।

जिनदत्त सेठ ललितांग को दृढ़ करने के लिये एक कथा कहने लगा—

जैनधर्म के आराधकों से परिपूर्ण बहुजन संकीर्ण भरतक्षेत्र में भूमितिलक नाम का एक नगर है। इस नगर में नरपाल नामक राजा राज्य करता था तथा सुन्दर नाम का राजसेठ अपनी स्त्री सुनन्दा सहित आनन्द से रहता था। इन दोनों के श्रीवर्मा, जयवर्मा, जिनवर्मा, जिनदत्त, जिनदास और धन्वन्तरि ये छः पुत्र थे। राजा के पुरोहित का नाम सोमशर्मा था। इसकी स्त्री यज्ञिले (यक्षिला) नाम की थी। इनको विश्वानुलोम नाम का पुत्र था। कर्मयोग से धन्वन्तरि और विश्वानुलोम में अत्यन्त वात्सल्य था। दोनों एक साथ ही भोजन-शयन करते थे। ये दोनों एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते थे।

दैवयोग से दोनों कुसंगति में पड़कर सप्त व्यसनों का सेवन करने लगे। राजपुरोहित और राजसेठ ने इन दोनों को दुष्कर्मों से रोकने के लिये पूरा प्रयत्न किया पर वे न माने। चोरी, व्यभिचार आदि दुष्कृत्य करते रहते थे। इन दोनों ने राजा से अपने पुत्रों की शिकायत की। राजा ने दोनों को दण्ड दिया, परन्तु फिर भी उन दोनों ने अपने पाप कर्मों को छोड़ा नहीं।

एक दिन उन्होंने राजभण्डार में चोरी की। कोतवाल ने चोरी करते हुए उन्हें पकड़ा और राजा के पास उपस्थित किया। राजा ने कहा—तुम दोनों बड़े दुष्ट हो, जल्दी मेरे राज्य से निकल जाओ अन्यथा तुम्हें फांसी पर लटकवा दूँगा। राजाज्ञा प्राप्त कर वे दोनों शहर छोड़कर अन्यत्र चले गये। मोह के कारण माता-पिता भी उनके साथ चले। कुछ दिन तक चलने के उपरान्त वे गजपुर में पहुँचे और वहाँ जाकर भी चोरी का कार्य करने लगे तथा थोड़े ही दिनों में चोरों के सरदार बन गये।

एक दिन विश्वानुलोम ने धन्वन्तरि से कहा—भाई! आप मेरी एक बात अवश्य स्वीकार कीजिये। आप आज से जैन साधुओं के पास न जाइये तथा जैन मंदिर में भी मत जाइये। आप भूमितिलक नगर में सदा जैन मन्दिर के दर्शन करते थे, जैन साधुओं के उपदेश सुनते थे; किन्तु अब आपको सब छोड़ना पड़ेगा। इनके साथ रहने से हमारे भोग विलास में बाधा आती है। अतएव आज से आप को मेरी बात मानकर जैन मन्दिर जाना बन्द करना होगा।

धन्वन्तरि—भाई बिगड़ते क्यों हो आज से आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

वार्तालाप के कुछ दिन बाद दोनों मित्र कहीं जा रहे थे कि कुछ दूर जाने पर प्यास लगी। वे दोनों जंगल में जल की तलाश करने लगे, इतने में एक जंगली हाथी उनके पीछे दौड़ा। दोनों भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे। इसी बीच आकाश में बादल छा गये, पानी बरसने लगा। पानी बन्द होने पर सन्ध्या समय दोनों वहाँ से चले किन्तु नगर का फाटक बन्द हो जाने से उन्हें वापस आना पड़ा और वे एक जैन मन्दिर में ठहर गये। सौभाग्य से उस दिन उस मन्दिर में वरधर्म नाम के मुनिराज भी वहाँ विद्यमान थे। प्रातःकाल भक्तिपाठ के अनन्तर श्रावकों को उपदेश दे रहे थे। उन दोनों ने विचारा कि इनका उपदेश कहीं हमारे कान में न पड़ जाय; अतः उन्होंने अपने कान बन्द कर लिये। अचानक धन्वन्तरि के कान से रुई निकल गयी और उसके कान में मुनिराजजी का उपदेशामृत जाने लगा। वह मुनिराज के पास चला आया और नमस्कार कर उनका उपदेश सुनने लगा। उपदेश सुनकर धन्वन्तरि बहुत प्रभावित हुआ और उसने मुनिराज से व्रत की याचना की। उसकी प्रार्थना सुनकर मुनिराज बोले—तुम कौन-सा व्रत लेना चाहते हो?

धन्वन्तरि—महाराज मुझे कोई ऐसा व्रत दीजिये, जिसका मैं निर्वाह कर सकूँ।

मुनिराज—तुम प्रतिदिन घुटे सिर व्यक्ति का दर्शन कर भोजन करना।

धन्वन्तरि इस नियम को सहर्ष स्वीकार कर अपने साथी के पास आकर सो गया। घर आने पर अपने नियम का दृढ़ता पूर्वक पालन करने लगा। एक दिन शीघ्रतावश वह घुटे सिरवाले व्यक्ति के दर्शन किये बिना भोजन करने लगा। बीच

में उसे अपने नियम की याद आ गयी; अतः वह भोजन छोड़कर अपने नियम को पूरा करने के लिये चला। उसके पड़ोस में कुम्हार ने उसी दिन सिर घुटवाया था, किन्तु वह बर्तन बनाने के लिये मिट्टी लेने बाहर गया हुआ था। धन्वन्तरि जब कुम्हार के यहाँ पहुँचा और उसे घर में न पाया तो जिधर कुम्हार मिट्टी लेने के लिये गया था, वह भी उधर की ओर चला। जब कुम्हार के पास यह पहुँचा तो उसने कुम्हार को घबड़ाया हुआ देखा। कुम्हार ने समझा—इसने मुझे खदान से धन निकालते हुए देख लिया है, अतः आधा हिस्सा इसको भी देना चाहिये, अन्यथा यह राजा से जाकर कह देगा तो राजा सभी धन ले लेगा। इस प्रकार विचार कर कुम्हार धन्वन्तरि के पीछे धन का हण्डा लेकर चला। धन्वन्तरि दर्शन कर सीधा अपने घर की ओर तेजी से चलने लगा। धन्वन्तरि आगे चला जा रहा था और कुम्हार स्वर्ण मुद्राओं से भरे हण्डे को लेकर उसके पीछे दौड़ने लगा तथा धन्वन्तरि को ठहरने के लिये पुकारने लगा।

धन्वन्तरि अपने कार्य की शीघ्रता के कारण कुम्हार के द्वारा रोके जाने पर भी नहीं रुका और अपने घर पहुँच गया। कुम्हार ने जाकर स्वर्ण मुद्राओं का ढेर उसके सामने लगा दिया और हाथ जोड़कर कहने लगा—हे प्रभो! आप इन स्वर्ण मुद्राओं को ग्रहण कीजिये; मैंने इन्हें इसी खादान में मिट्टी खोदते समय पाया है। आप इस धन के मालिक हैं, जैसा समझे करें।

कुम्हार के इन वचनों को सुनकर धन्वन्तरि को मुनिराज के वचनों का स्मरण आ गया और विचारने लगा कि एक छोटे से नियम के ग्रहण करने से इतनी विशाल धनराशि की प्राप्ति हुई है। यदि मैं मुनिराज के पास जाकर अन्य कोई व्रत ग्रहण करूँ तो निश्चय ही मालामाल हो जाऊँगा। इस तरह ऊहा पोह कर कुम्हार को आधा धन दे वरधर्म मुनिराज के पास आया और महाराज से अन्य कल्याणकारक व्रत की याचना की।

सोच-विचार कर मुनिराज बोले—हे वत्स! अजान फल का भक्षण करना छोड़ दो।

धन्वन्तरि ने सहर्ष नमस्कार कर व्रत ग्रहण कर लिया। कुछ दिनों के उपरान्त

धन्वन्तरि और विश्वानुलोम विदेश से बहुत-सा धन चुराकर आये और एक बड़े मैदान में बैठकर बटवारा करने लगे। कई दिनों से भोजन न मिलने के कारण ये लोग बहुत भूखे थे तथा पास में रुपये, पैसे, सिक्के नहीं थे, सिर्फ स्वर्ण, चाँदी और जवाहरात ही थी। अतः बाजार से भोज्य पदार्थ न ला सकने के कारण इन्होंने जंगल में से ही लालवर्ण के कुछ अजनबी फलों को तोड़ा और सभी लोगों के साथ खाने के लिये बैठे।

धन्वन्तरि—अरे! इन फलों का नाम बताओ? जब तक इनका नाम नहीं मालुम होगा, मैं इन्हें नहीं खाऊँगा। मैंने अजान फल न भक्षण करने की प्रतिज्ञा की है। उसने अपने प्रत्येक साथी से उन फलों का नाम पूछा परन्तु कोई भी नहीं बता सका। अतः उसने अपने घनिष्ट मित्र विश्वानुलोम से पुनः कहा—मैं किसी भी अवस्था में इन फलों को ग्रहण नहीं करूँगा।

विश्वानुलोम—भाई! अब हमारा तुम्हारे साथ निर्वाह नहीं हो सकेगा। तुम स्वयं भूखे रहते हो और हम लोगों को भी भूखे रखते हो। तुम्हारे बिना खाये मैं कभी भी नहीं खा सकता हूँ। तुम दिगम्बर जैन साधुओं के बहकाने से ढोंग में पड़ गये हो। तुम नहीं जानते, ये लोग जादूगर होते हैं। जो इनके पास जाता है, अवश्य प्रभावित हो जाता है। मैं तो तुम से पहले ही मना करते रहता था कि इनके पास मत जाओ, इनका उपदेश मत सुनो, पर तुमने मेरी बात नहीं सुनी। आज कई दिनों से तुम्हारे ही कारण मैं भूखा हूँ। यदि हठ छोड़ देते तो पूर्व के अरण्य में ही फल खाकर हम अपनी क्षुधा को दूर करते। अच्छा तुम मत खाओ, मैं भी नहीं खाता हूँ, पर इन बिचारे साथियों को भूखे क्यों मारते हो? अरे भाईयों! तुम यथेष्ट फल खाकर अपनी क्षुधा को शान्त करो।

विश्वानुलोम के निर्देशानुसार अन्य साथियों ने फल खाये और वे सदा के लिये निद्रा देवी की गोद में सो, अपने पापों से छुटकारा प्राप्त कर गये। बात यह थी कि वे सभी फल विषफल थे, अतः खाते हो उनके साथियों के प्राण पखेरू उड़ गये, धन्वन्तरि इस दृश्य को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और घर पहुँच कर पुनः वरधर्म मुनिराज के पास गया और हाथ जोड़ कर कहने लगा—स्वामिन्!

आपके दिये हुए व्रत ने मेरे प्राणों की रक्षा की है, अतः अब कोई आसान दूसरा व्रत दे दीजिये।

मुनिराज—वत्स! बलिदान के लिये आटे का बकरा या अन्य पशु बनाकर लोग रास्ते में चौराहे पर छोड़ देते हैं, तुम उसको न खाने का नियम लो।

धन्वन्तरि—महाराज! आपका व्रत स्वीकार है, आप सच्चे गुरु हैं। चोरी करना मुझे अत्यन्त प्रिय है, आप इसीलिये इसे छोड़ने को नहीं कह रहे हैं।

धन्वन्तरि की बातों को सुनकर महाराज मुस्कुराये और सोचने लगे कि इस शिष्य का कल्याण अवश्य होगा, अब इसके उद्धार का समय निकट आ रहा है। त्याग के समान सुखकर अन्य कुछ नहीं है, परन्तु सदा शक्ति के अनुसार ही त्याग करना या करवाना चाहिये। जो अपनी शक्ति का विचार किये बिना व्रत नियम ग्रहण कर लेते हैं, वे प्रायः असफल रहते हैं। यदि इस धन्वन्तरि को मैं एक दिन ही सप्तव्यसन का त्याग कराता तो यह कभी भी नहीं करता। अब निश्चय ही यह धर्म को धारण करेगा।

धन्वन्तरि घर जाकर पुनः चोरी के व्यवसाय को अपने मित्र के साथ पूर्ववत् करने लगा। एक दिन धन्वन्तरि और विश्वानुलोम भूखे-प्यासे चले आ रहे थे। रास्ते में एक स्थान पर धरणेन्द्र का मन्दिर मिला। वहाँ पर कमलों से परिपूर्ण एक सरोवर था, उसके किनारे आटे के बैलों को कोई बलिदान कर रखा गया था। विश्वानुलोम ने धन्वन्तरि से कहा—भाई! यह आटा यहाँ मिल ही गया है, पानी यहाँ पर है ही, अतः यहीं हम लोगों को भोजन कर लेना चाहिए, अब भूख के मारे एक कदम भी आगे नहीं चला जाता है।

धन्वन्तरि—मेरा व्रत है कि बलिदान के लिये बनाये गये आटे के पशु को काम में न लेना; अतः मुझे भूखा मरना पसन्द है, परन्तु इस बलिदान के अन्न को खाना नहीं। मुझे तो यह आटे का पुतला विषमय प्रतीत हो रहा है। गुरु के वचनों पर मेरा अटल शिवास है। यद्यपि भूख के मारे मेरे भी प्राण निकल रहे हैं, परन्तु व्रत को मैं नहीं तोडूँगा।

धन्वन्तरि के न खाने से विश्वानुलोम को भी भूखे ही रह जाना पड़ा; परन्तु उनके अन्य साथियों ने उस आटे के पुतले की रोटियां बनाकर खाली। भोजन के उपरान्त सभी भोजन करने वाले साथी मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़े और मृत्यु को प्राप्त हुए। बात यह हुई थी एक सांप उस पुतले को विषैला कर गया था, जिससे उन विषैली रोटियों के खाने से वे मृत्यु के शिकार हुए। साथियों की मृत्यु देखकर वे दोनों आश्चर्य में पड़ गये और चोरी के धन को आपस में बांटकर घर ले गये।

धन्वन्तरि अपने व्रत की सच्चाई देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और सोचने लगा कि गुरु के पास जाकर अब और कोई व्रत लेना चाहिये। ये दिगम्बर साधु बड़े ही हितकारी हैं, इनके ही कारण मेरे प्राणों की रक्षा दो बार हुई है। ये संसार से बिल्कुल विरक्त हैं, इनके पास कुछ भी परिग्रह नहीं। नग्न रहकर, भूख, प्यास, गर्मी, वर्षा, जाड़ा आदि के कष्ट को शान्ति और धैर्यपूर्वक सहन करते हैं। किसी से कुछ भी नहीं लेते, मैंने उस दिन इन्हें सौ स्वर्ण मुद्राएं दीं, परन्तु इन्होंने एक भी न ली। संसार के सब से बड़े हितैषी यही हैं। कोई गाली दे तो भी नाराज नहीं होते। विश्वानुलोम ने उस दिन एक हजार गालियां इनको दी होंगी, पर एक शब्द भी इन्होंने मुंह से नहीं निकाला। मेरे एक साथी ने जब ढेले से मारा था, तब भी यह हंसते ही रहे, उस ढेले के दु:ख की तनिक भी परवाह नहीं की। परसों जब हम उस रास्ते से जा रहे थे, तो हमने देखा था कि इतनी कड़ाके की सर्दी में भी ये अपने ध्यान में संलग्न थे। अब तो मुझे निश्चय हो गया है कि दिगम्बर साधु ही सच्चे हैं। ढोंगियों के पास कभी नहीं जाना चाहिये, वास्तव में मेरी आदत इन पाखण्डी-साधुओं ने ही खराब की है। शराब पीने का मुझे बिल्कुल अभ्यास नहीं था, मुझे शराब देखते ही कँप-कपी होती थी; पर धीरे-धीरे पाखण्डी साधुओं ने मुझे शराब की आदत डाल दी यदि उस समय ये दिगम्बर साधु मिल गये होते, तो निश्चय मेरा जीवन इस नरक से बच जाता। अब पछताने से क्या होता है, मेरी आदतें इतनी पुरानी हो गई हैं कि मैं इन्हें छोड़ने में मजबूर हूँ। इस प्रकार विचार-सागर में डुबकियां लगाता हुआ धन्वन्तरि वरधर्म मुनिराज के पास गया और बोला—प्रभो! आपके व्रत ने मेरी प्राण रक्षा की है, कृपया और कोई सुलभ व्रत दीजिये।

मुनिराज—वत्स! प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को मांस खाने और मदिरापान करने का त्याग कर दो, इससे तुम्हारा कल्याण होगा।

वह व्रत स्वीकार कर घर आया और विश्वानुलोम को बुलाकर चोरी के लिये विदेश गमन किया। अब की बार अपार धनराशि चोरी में उपलब्ध हुई। दोनों साथी अनेक अनुचरों के साथ लौटे तो धन का बंटवारा करने के लिये डेरा डाल दिया। आमोद-प्रमोद करने के लिये अपने दो अनुचरों को बढ़िया शराब लेने और दो को मांस लेने नगर में भेजा। जो व्यक्ति शराब लेने गये थे वे सोचने लगे कि ये दोनों सरदार तो आधे से ज्यादा धन ले लेते हैं, हम लोगों को बहुत कम हिस्सा देते हैं। यदि इस शराब में हम लोग विष मिलाकर ले चलें, तो सरदार तथा इनके अन्य साथी शराब पीते ही यमलोक पहुँच जायेंगे और सारा धन हमें मिल जायेगा, जिससे हम अपनी जीवन भर की गरीबी को दूर कर सकेंगे। इस प्रकार विचार कर विष खरीदा और शराब में मिला दिया।

जो व्यक्ति मांस लेने गये थे, उनके मन में भी यह लोभ-पाप घुसा और उन्होंने भी मांस में विष मिला दिया। जब नगर से शराब और मांस आ गया तो विश्वानुलोम बोला—भाई धन्वन्तरि! इस भोज्य को ग्रहण करो।

धन्वन्तरि—आज चतुर्दशी होने से मैं मदिरा और मांस नहीं ग्रहण करूँगा। विश्वानुलोम ने धन्वन्तरि को बहुत समझाया, पर वह अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहा। उनके सभी साथियों ने विषैली शराब और मांस ग्रहण किये, जिससे वे एक-एक कर मृत्यु के मुख में चले गये। केवल धन्वन्तरि और विश्वानुलोम दोनों बच गये। धन्वंतरि ने इस आश्चर्यमय घटना को देखकर विश्वानुलोम से कहा—देखा, गुरु वचन का प्रभाव, तीन बार हमारे प्राणों की रक्षा गुरु वचनों से हुई है। देखो! तुमने उस दिन मुनिराज को कितनी गालियां दी थी, अब उनकी महत्ता को समझो।

धन का बंटवारा कर दोनों घर आये। धन्वन्तरि को शान्ति नहीं मिली, अतः वह मुनिराज के पास गया।

मुनिराज—वत्स! किस लिये आये हो?

धन्वन्तरि—महाराज! आपके द्वारा दिये गये व्रत ने मेरा परम कल्याण किया है। कृपया अन्य सुलभ व्रत दीजिये।

मुनिराज—वत्स! तुम किसी पर क्रोध करो और मारो तो सात कदम पीछे हटकर अपना कार्य करना।

धन्वन्तरि—एवमस्तु।

कुछ दिन तक घर में रहने के उपरांत दोनों मित्र अपने साथियों के साथ कलिंग देश को ओर चोरी करने के लिये गये और छः महीने तक वहीं रहते रहे; पश्चात् घर की लौटे। धन्वन्तरि घर से आते समय अपनी स्त्री को गर्भवती छोड़ आया था अतः उसके लिये विशेष रूप में चिंता करने लगा। लौटते समय वह गजपुर में कुछ दिनों तक रहा और वहाँ पूजा उत्सव को देखने के अनन्तर घर गया। एक ही चारपाई पर अपनी स्त्री और मां को सोते पाया। मां किसी नाटक में गयी थी अतः पुरुष की पोशाक पहने ही सो गई, जिससे धन्वन्तरि को अपनी स्त्री के आचरण के ऊपर संदेह हो गया। उसने समझा कि मेरी स्त्री किसी पर पुरुष के साथ सो रही है, अतः मारने के लिये तलवार खींच ली; परन्तु मुनिराज के द्वारा दिये गये व्रत का स्मरण कर सात कदम पीछे को हट गया। इतने में उसकी स्त्री ने अपनी सास से कहा—जरा आगे को हटिये, गर्मी लग रही है आप तो मर्दाने कपड़े ही पहने सो गयी, नींद नहीं आ रही है। स्त्री की इस आवाज को सुनकर वह भौंचक्का रह गया और तलवार म्यान में रखली और विचारने लगा कि आज इस पांचवें व्रत ने मेरा सर्वस्व बचा दिया। आज मुझ से महान् अनर्थ होता, माँ की हत्या करता, गर्भिणी स्त्री को मारता जिससे दो जीवों को हत्या होती और मेरा पूरा घर ही उजड़ जाता। धन्य हो दिगम्बर साधु जिनके इन तुच्छ व्रतों ने मेरा कितना उपकार किया। अब मुझे आत्म कल्याण करने वाले व्रत ग्रहण करना चाहिये। व्यसनों में पड़कर मैंने अपनी आत्मा का कितना अपकार किया। लोक-परलोक सब कुछ बिगाड़ा, जघन्य से जघन्य कृत्य किया, मेरे समान संसार में कोई भी पापी नहीं होगा। हाय! ऐसे परोपकारी दिगम्बर साधु को प्राप्त कर भी मैंने अपना उद्धार नहीं किया। मुझ से नीच संसार में कोई नहीं होगा। इस प्रकार आत्मालोचना

करता हुआ धन्वन्तरि आत्मविभोर हो गया। उसने समस्त धन दान में लगा दिया तथा स्त्री और माता के रहने का पूरा प्रबन्ध कर अपने कल्याण के लिये मुनिराज के चरणों में आया और हाथ जोड़कर कहने लगा—हे प्रभो! अब मैं अपने स्वरूप को समझ गया हूँ, पाप दूर करने के लिये कुछ उपाय बतलाइये। जिनदीक्षा से बढ़कर आत्मकल्याणकारी अन्य कोई साधन नहीं है, अतः आप मुझे दिगम्बर दीक्षा दीजिये।

मुनिराज—वत्स! तपश्चर्या बड़ी कठिन वस्तु है। यह असिधारा व्रत है, तुम अभी इसके योग्य नहीं हो, अतः घर में रहकर ही श्रावकधर्म का पालन करो।

धन्वन्तरि को मुनिराज के वचनों से संतोष नहीं हुआ, परन्तु गुरु आज्ञा मान कर घर चला आया। दोचार दिन रहकर उसने श्रावकधर्म का पालन किया परन्तु इसके मन में बड़ा भारी संघर्ष था। अन्त में उसने निश्चय किया कि जैसे भी हो दिगम्बर दीक्षा ग्रहण करूँगा। यही एक मात्र मनुष्य का उद्धार करने वाली है। इस प्रकार विचार-विनिमय कर वह अपनी माता को समझा गया कि तुम विश्वानुलोम को मेरे पास भेज देना। वह धरणीभूषण पर्वत पर गया और वहाँ श्रीधर्म मुनिराज से दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली।

जब विश्वानुलोम धन्वन्तरि के घर आया और उसे यह समाचार मिला कि धन्वन्तरि ने दीक्षा ग्रहण करली है, तो उसने निश्चय किया कि जो मित्र की दशा हुई है, वही मेरी होगी। मैं अब दीक्षा ग्रहण कर अपना कल्याण करूँगा। तस्कर वृत्ति करते-करते मेरी आत्मा निष्ठुर हो गई है, अतः अब अंतिम समय में मुझे कल्याण करना चाहिए।

विश्वानुलोम जिस समय धन्वन्तरि के पास पहुँचा, धन्वन्तरि उस समय सूर्य प्रतिमा धारण किये थो, जिससे वह मौन हो खड्गासन लगाये ध्यानस्थ था। विश्वानुलोम ने धन्वन्तरि से बात चीत करने का प्रयास किया किन्तु मौन होने के कारण धन्वन्तरि कुछ नहीं बोला जिससे विश्वानुलोम को क्रोध आ गया और सहस्त्र जटी मिथ्यात्वी तापसी से दीक्षा ग्रहण करली। दूसरे दिन धन्वन्तरि विश्वानुलोम के पास आया और बात करने लगा। विश्वानुलोम ने सोचा कल मैं कितना चिल्लाया

पर इसने बात भी नहीं की, आज मैं इससे क्यों बोलूँ। विश्वानुलोम की इस क्रिया को देख धन्वन्तरि कहने लगा—हे मित्र! आपकी यह तपस्या आत्म कल्याण से दूर ले जानेवाली है, इससे आप इहलौकिक कीर्ति के सिवा और कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इस मानव पर्याय को प्राप्त कर आत्म कल्याण करना चाहिये। अज्ञानता के समान संसार में कोई भी दुःखदाई नहीं है। जिस पाप पंक से बचने के लिये तुम तपस्या कर रहे हो, उसी पाप पंक में लिप्त होने का प्रयास आप क्यों करते हैं? इस प्रकार समझाकर धन्वन्तरि अपने स्थान पर लौट आया और उग्रतर तपस्या कर समाधिमरण किया, जिससे मरकर अच्युत स्वर्ग में अमितप्रभ नाम का अहमिन्द्र देव हुआ।

धन्वन्तरि के जीव अमितप्रभ देव ने नन्दीश्वरी द्वीप में विश्वानुलोम के जीव को व्यंतर हुआ देखकर महान् आश्चर्य किया और कहने लगा—तुमने खोटी तपस्या की थी, मैंने तुमको कितना समझाया पर तुम नहीं माने, इसी का फल व्यंतर होना तुम्हें मिला है, तुम स्वयं परीक्षा करके देख लो कि किसकी तपस्या अच्छी है। चलो, अपने-अपने गुरुओं की परीक्षा करें।

वे दोनों चल कर कराट देश के पश्चिम भाग में चन्द्रिकारण्य में रहने वाले जमदग्नि जटाधारी तपस्वी की परीक्षा करने के लिये आये। जमदग्नि उग्र तपस्या में लीन था, आपाद मस्तक लताएं उसे वेष्टित किये हुए थीं, वह सिर पर पत्थर लिये तपस्या में लीन था, उसकी इस तपस्या को देखकर अच्युतेन्द्र बोला—मूर्ख की बात, आकाश की छाया और अज्ञानपूर्वक तप कभी शाश्वत नहीं होते। इस प्रकार कह कर उसकी परीक्षा के लिये उसने अपनी विक्रिया के द्वारा दो पक्षियों को उत्पन्न किया और उनका घोंसला उनकी दाढ़ी में बना दिया। कुछ समय के बाद एक तीसरा पक्षी आया और उससे बोला—मेरु गिरि के पास मेरी बहन की शादी है, अतः आप चलिये। नर पक्षी जब निमंत्रण को स्वीकार कर जाने लगा तो मादा बोली—मैं गर्भिणी हूँ, अकेली नहीं रहूँगी। मालूम होता है कि तुम वहाँ दूसरी शादी कर अपने को सुखी बनाना चाहते हो, इसी कारण तुम मुझे यहीं छोड़कर जाते हो। मैं यह कहे देती हूँ कि यदि तुमने मेरा जी दुखाकर दूसरा विवाह कर लिया तो तुम्हारी वही गति होगी जो मरने पर इस तपस्वी की।

मादा पक्षी की इस बात को सुनकर जमदग्नि ऋषि को क्रोध आ गया और दोनों पक्षियों को हाथ में लेकर फेंक दिया। क्रोध शान्त होने पर वह ऋषि पश्चात्ताप करने लगा, अतः उनको नमस्कार कर बोला—हे पक्षियों! बताओ मेरी कौन-सी गति होगी? तुम लोग मेरी नीच गति क्यों कह रहे हो? पक्षी बोले—'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' तुमने बिना पुत्र उत्पन्न किये तपस्या की है, अतः तुम्हारी अच्छी गति नहीं होगी। पक्षियों के इन वचनों को सुनकर ऋषि बहुत प्रभावित हुआ और उनकी प्रदक्षिणा देकर कहने लगा—आपने मेरा बड़ा उपकार किया है, आज आपने मुझे सच्चा ज्ञान दिया। मैं अबतक बड़े अन्धेरे में था। हाय! मुझ मूढ़ को यह छोटी-सी बात भी याद न आई। इस प्रकार स्तुति कर घर आया और अपने मामा की पुत्री से विवाह कर आनन्द से विषय भोगने लगा।

अच्युतेन्द्र व्यन्तर की ओर देखकर कहने लगा—देखो! तुम्हारा इतना बड़ा गुरु भी एक छोटी-सी बात से चलायमान हो गया। मिथ्या तपस्या का प्रभाव ऐसा ही क्षणिक होता है, यह प्रारम्भ में भले ही चमत्कारपूर्ण मालूम हो, पर पीछे निष्फल सिद्ध हुए बिना नहीं रह सकता। दिगम्बर साधुओं की परीक्षा तुम पीछे करना, पहले जैन गृहस्थ की ही परीक्षा करके देख लो। आत्मा की प्रतीति हो जाने पर—सम्यग्दर्शन हो जाने पर कोई भी धर्म से च्युत नहीं हो सकता है। यदि तुम सम्यग्दृष्टि श्रावक को ही अपने व्रत से च्युत कर दो, तो मैं तुम्हें बड़ा भारी ज्ञानी समझूँ।

रात को एक श्रावक प्रतिमा योग किये श्मशान भूमि में तपस्या कर रहा था। अच्युतेन्द्र ने कहा आप इसकी परीक्षा कीजिये। व्यन्तरदेव ने क्रोधित हो बिजली तैयार की, जोर से हवा चलायी, जिससे बड़े-बड़े पौधे भी उखड़ गये, सिंह, व्याघ्र उत्पन्न किये जो दहाड़ने और चिंघाड़ने लगे। श्रावक के चारों ओर अग्नि जलने लगी, मदोन्मत्त हाथियों का समुदाय उपद्रव करने लगा, राक्षसों का समुदाय चिल्लाने लगा कि इसे मारो, काटो, चूर-चूर कर डालो की आवाज गूंजने लगी, इतना ही नहीं उन व्यन्तरों ने उसको मिट्टी के ढेले के समान फेंकना शुरू किया, नाना प्रकार के कष्ट दिये; किन्तु वह धीर श्रावक इन नाना प्रकार के उपसर्गों से विचलित न हुआ। इसके अनंतर व्यन्तर ने देव, शास्त्र, गुरु का विक्रिया द्वारा अपमान किया

तथा उसकी स्त्री, पुत्र, माता की हत्याएं की, किन्तु वह साधक ज्यों का त्यों ध्यान में अडिग रहा। व्यंतर उसके अद्भुत धैर्य और तेज को देखकर नत हो गया और उसके चरणों में गिर अपने कृत्यों की क्षमा मांगने लगा तथा स्वयं उसने मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यक्त्व ग्रहण किया।

इस प्रकार सेठ अंजनचोर से कथा कहकर बोला कि जिनेन्द्र भगवान की भक्ति करने से सारी विभूतियां प्राप्त होती हैं। गगनगामिनी विद्या तुम्हें प्रभु-भक्ति के प्रसाद से ही प्राप्त हुई है। अंजनचोर विचारने लगा कि मैंने सप्तव्यसन में अपना सब कुछ खो दिया,धूर्तों की संगति से मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। अतः अब मुझे जिनेंद्र भगवान् के चरणों में ही शान्ति मिल सकती है। विश्वानुलोम और धन्वन्तरि जैसे व्यसनी जीवों का कल्याण इस पवित्र धर्म के धारण करते हो गया तो फिर मेरा कल्याण क्यों नहीं, इस धर्म के धारण करने से होगा? इस प्रकार आत्मालोचना करता हुआ देवर्षि नामक चारण ऋद्धिधारी मुनि के पास गया और उनसे दिगम्बर दीक्षा ग्रहण की, पंच मुट्ठी लौंच किया और 28 मूल गुणों का पालन करने लगा। कुछ दिन तक तपस्या करने के उपरान्त उसे चारण ऋद्धि प्राप्त हुई। कैलाश पर्वत पर द्वादश प्रकार के तपों को करते हुए उसने घातिया कर्मों को नष्ट किया, पश्चात् मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियों को नाशकर परम पद को प्राप्त हुआ।

जो जिनेंद्र भगवान् के चरणों में दृढ़ विश्वास रखता है, वही अविनाशी सुखों को प्राप्त होता है। इस प्रकार गौतम गणधर ने राजा श्रेणिक से निःशंकित अंग की कथा कही। जो व्यक्ति निःशंक हो, पारस पत्थर के समान निर्मल धर्म से मिथ्यात्वरूपी लोहे को स्वर्ण में परिवर्तित कर देता है, वह धन्य है।

तीसरी कथा : निःकांक्षित अंग की कथा

निःशंकित अंग की कथा सुनकर राजा श्रेणिक देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति में दृढ़ हो गौतम गणधर से निःकांक्षित अंग की कथा कहने के लिये प्रार्थना करने लगा। गौतम गणधर समस्त सुखों की खान निःकांक्षित अंग की कथा कहने लगे।

अगणित कमलों से परिपूर्ण तालावों से सुशोभित; कुबेर के समान धनिकों

से पूर्ण, सरस्वती के अवतार विद्वानों से युक्त अंगदेश इसी भूमि पर शोभित है। इस देश में मोती और पद्मराग मणियों से युक्त उन्मत्त शिखरबद्ध जिनचैत्यालयों के द्वारा समस्त पाप को दूर करने वाली चम्पापुरी नाम की नगरी है। इस नगरी में जिनागमरूपी समुद्र का पारगामी श्रेष्ठवणिक वंश में उत्पन्न प्रियदत्त नाम का सेठ था, इसकी अनंत रूप-लावण्यवाली अंगमती नाम की भार्या थी। इन दोनों के गुणवती, होनहार, अनन्तमती नाम की कन्या थी। यह कन्या अपने रूप और गुणों से सभी के चित्त को प्रसन्न करती थी। इसका बाल्यकाल समवयस्क बच्चों के साथ क्रीड़ा करते हुए बीतने लगा।

एक दिन यह अपनी सहेलियों के साथ गुड्डा-गुड़ियों के विवाह का खेल-खेल रही थी। इसने गुड़िया और गुड्डा को सुन्दर वस्त्राभूषणों से सजाया, दोनों के मस्तक में कुंकुम का तिलक लगाया, सोने का हार पहनाया, गले में सुगन्धित पुष्प और मुक्ताओं से हार तैयार कर पहनाये। कई चन्द्रमुखी बालिकाएं बाजा बजाती हुई, बाजेवालों की नकल कर रही थी। इस प्रकार बालिकाओं की बारात का दृश्य बड़ा ही भव्य और चित्ताकर्षक मालूम हो रहा था। उपस्थित सभी कन्याएं आनन्द विभोर हो लोट-पोट हो रही थीं। इस समय प्रियदत्त सेठ श्री जिनेंद्र भगवान् के दर्शन करने के लिये उसी रास्ते से जा रहे थे, जहाँ बालिकाएं क्रीड़ारत थीं।

प्रियदत्त सेठ ने अपनी प्यारी पुत्री को गोद में उठा लिया और प्यार करते हुए कहा तुम मुझ से छिपाकर विवाह कर रही हो? तुमने वास्तविक बाजे नहीं बुलाये, अतिथियों को नहीं बुलाया, ज्योनारका प्रबन्ध नहीं किया। यदि तुम पहले से ही मुझ से कह देती तो मैं सारा प्रबन्ध कर देता। इस प्रकार अनन्तमती को प्यार की बातें कह कर प्रियदत्त अपने साथ जिनालय में लाया। भगवान् की पूजा-भक्ति करने के अनन्तर उन्होंने मुनिराज के दर्शन किये तथा मुनिश्री से सद्धर्म का उपदेश देने को प्रार्थना की। श्रद्धापूर्वक उपदेश श्रवण कर नित्यव्रत ग्रहण किये। जाते समय सेठ ने महाराज से प्रार्थना की—प्रभो! मेरी इस होनहार पुत्री को ब्रह्मचर्यव्रत दे दीजिये। मैं विवाह पूर्ण वयस्क होने पर करूँगा। मेरे साथ पर्व पर्यन्त यह भी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करेगी।

वरदत्त मुनिराज ने हंसकर कहा—पुत्री! तुम्हें ब्रह्मचर्यव्रत दे रहा हूँ, स्वीकार करो।

अनन्तमती नमोऽस्तु कर—गुरु के बचन अंगीकार हैं। आज से मैं गुड्डा-गुड़ियों का विवाह करना छोड़ती हूँ।

यह व्रत लेकर अनन्तमती बहुत प्रसन्न हुई। जिस प्रकार दरिद्री राज्य-लक्ष्मी प्राप्त कर, अन्धा दोनों नेत्र पाकर, कुंए में गिरा हुआ उसके बाहर आ जाने पर एवं रोगी व्यक्ति बिना औषध के अच्छा हो जाने पर आनन्दित होता है, उसी प्रकार उपर्युक्त व्रत ग्रहण कर अनन्तमती को अपार हर्ष हुआ। वह सोचने लगी कि व्रत ही संसार की पाप कालिमा को दूर कर सुख और शान्ति प्रदान करता है। जीवन में सदाचार का श्री गणेश व्रतों के द्वारा ही होता है।

वृक्षों के समुदाय में जैसे चन्दन वृक्ष, पुष्पों में कमल, सारिक वैभव में स्वर्गिक विभूति, पृथ्वी के राजाओं में चक्रवर्ती श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार समस्त देवों में वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी जिन भगवान् ही श्रेष्ठ हैं। जिनके पूर्वभव का पुण्य बलवान है, उन्हीं के कुलदेव जिनेन्द्र प्रभु हो सकते हैं। दयालु और स्नेहशील रूपवती स्त्री, विश्वासी नौकर, राजा की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने वाला देश, कुल के अनुसार शील के साथ निर्वेग-विरक्ति, व्रत के साथ तप, तप के साथ ऐश्वर्य, जीवन के साथ श्रद्धा, श्रद्धा के साथ शक्ति, शक्ति के साथ भक्ति, भक्ति के साथ दान, दान के साथ धन, धन के साथ उदारता, सम्यग्दर्शन, व्रत आदि का मिलना संसार में दुर्लभ है। इस संसार से पार करने वाला सम्यग्दर्शन है, सम्यग्दर्शन के बिना इस मनुष्य पर्याय का प्राप्त करना निरर्थक है। धर्म का सार सम्यग्दर्शन ही है, जब तक आत्मा के प्रति श्रद्धा नहीं, लोक-परलोक में विश्वास नहीं, तब तक व्यक्ति को शान्ति नहीं मिल सकती। संसार के भोग जीवन में सुख और शान्ति नहीं ला सकते। भोगों से विरक्त हो जाने पर ही शान्ति का अनुभव होता है। जो व्यक्ति भोगों का कीड़ा बना रहता है, एक दिन उस व्यक्ति को भी यथार्थता का अनुभव हो जाता है और वह भी इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि जीवन में सुख और शान्ति सन्तोष और त्याग में ही है।

बाल्यावस्था में सम्यग्दर्शन के साथ ब्रह्मचर्य व्रत का प्राप्त हो जाना, मेरे लिये परम गौरव की बात हैं। सांसारिक विषय देखने में सुन्दर, पर भीतर से अत्यन्त भयावने हैं। ये विषय प्रथम मनुष्य की बुद्धि को बिगाड़ते हैं, जिससे विषयी जीव को इन्हीं में आनन्द प्रतीत होता है। जिस प्रकार तालाब के पानी को निकाल कर नाले को बांधना, घर को नष्ट कर झोंपड़ी को बचाना, घी को त्याग कर गोबर को लेना, सोना छोड़ मिट्टी को लेना एवं कस्तूरी को त्याग कर काजल को ग्रहण करना मूर्खता के सिवा और कुछ नहीं है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और ब्रह्मचर्य को छोड़ संसार के विषयों को ग्रहण करना मूर्खता नहीं तो और क्या है?

यद्यपि अनन्तमती की अवस्था अभी थोड़ी ही थी, परन्तु विचार शक्ति उसकी प्रौढों के समान थी। इस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते समय उसकी अवस्था 15 वर्ष की हो गई। घर में लोग उसे ब्रह्मचारिणी कहा करते थे। यद्यपि प्रियदत्त सेठ का यह विचार था कि अनन्तमती को समझा-बुझा कर विवाह कर देना है, इसलिये वह अच्छे घर-वर की तलाश में था। सेठ यह समझता था कि अनन्तमती ने थोड़े दिन के लिये ही यह व्रत लिया है तथा उसका प्रधान ध्येय तो गुड़ियों के खेल का त्याग ही है। अतएव अब वयस्क पुत्री का शीघ्र विवाह कर देना चाहिये।

एक दिन अनन्तमती अपनी सखियों के साथ नगर के बाहर नन्दन उद्यान में आम्रवृक्ष के नीचे झूला झूलने लगी। वह कमलमुखी अपनी मधुर ध्वनि से भगवान के गुणों का स्तवन करने लगी, उसके स्वर में अपूर्व मिठास था। यह स्वर ध्वनि जिसके भी कानों में पहुँचती थी, वही मंत्र-मुग्ध हो अपनी सुध-बुध भूल जाता था। इसी समय आकाशमार्ग से विजयार्द्ध श्रेणी का निवासी कुंडलमण्डित नाम का विद्याधर अपनी अग्र पट्टरानी सुकेशिनी सहित क्रीड़ा करने जा रहा था। अनुपम रूपलावण्यवती अनन्तमती के ऊपर जब उस विद्याधर की दृष्टि पड़ी तो वह काम विह्वल हो तड़फने लगा, अपने समस्त ज्ञान और विवेक को खो बैठा। उसकी बुद्धि कुंठित हो गयी; क्योंकि विषयी जीवों की वासना के कारण यही अवस्था होती है, वे अपने विवेक को जलाञ्जलि देते हैं, धर्म-कर्म सब भूल जाते हैं। विद्याधर कामपीड़ित हो सोचने लगा—ऐसी अनिन्द्य सुन्दरी अब तक मैंने कहीं देखी भी

नहीं है। इसकी हिरणी जैसी आँखें, कमल जैसा मुख, सिंहनी जैसी कमर, लता जैसा कोमल शरीर, तलवार जैसी भुजाएँ कोयल जैसी वाणी अन्यत्र दुर्लभ है। रति भी इसके रूप लावण्य के सामने तुच्छ है। इसके बिना मेरा जीवन निरर्थक है। पुन: वह सोचने लगा—इस समय मेरे साथ यह सुकेशिनी है, इसके रहते हुए मैं इस अनुपम सुन्दरी को प्राप्त नहीं कर सकता हूँ। अतएव पहले मैं सुकेशिनी को किसी बहाने से घर पहुँचा आऊँ, पश्चात् इसको प्राप्त करने का प्रयत्न करूँगा। यदि मैं धैर्य खो देता हूँ तो फिर इस बाला का उपभोग जीवन में कभी भी नहीं हो सकेगा।

जिस प्रकार रात में चोर पहरेदार को देखकर घबड़ाता है, ग्रीष्मऋतु में सूर्य की गर्मी से पथिक त्रस्त होता है, कृषक पानी के बिना सूखी हुई फसल देखकर चिन्तातुर होता है, उसी प्रकार सुकेशिनी को देखकर वह व्यथित हुआ। उसका मुख कमल सूख गया, हृदय मरुभूमि हो गया, उसका समस्त शरीर कांपने लगा, फिर भी धैर्य धारण कर वह कपट पूर्वक अपनी स्त्री से कहने लगा—भद्रे! इधर क्रीड़ा के लिये अच्छा नहीं प्रतीत हो रहा है, आज मौसम भी सुन्दर नहीं है अतएव मेरा यह अनुरोध है कि कल हम लोग क्रीड़ा के लिए चलेंगे। आज हम वापस लौट चलें, मुझे इधर के एक भूमिगोचरी राजा से मिलना भी है। अत: आज मैं इस आवश्यक कार्य को पूरा कर लेता हूँ और कल निश्चिन्त होकर हम क्रीड़ा करेंगे। दूसरी बात यह भी है कि आज तुमने अपना ठीक श्रृंगार भी नहीं किया, सुन्दर वस्त्राभूषण भी नहीं पहने हैं अत: कल तुम इस कार्य को भी पूरा कर लोगी।

सुकेशिनी—स्वामिन् विहार के लिये आज का मौसम तो बुरा नहीं है। आकाश स्वच्छ है, शीतल-मन्द-सुगन्धित पवन भी चल रहा है, सूर्य की स्वर्णमयीरश्मियाँ इन पर्वतों की चोटियों पर कितनी भली लग रही हैं। वस्त्राभूषण भी मेरे ठीक हैं, आप आज अवश्य चलिये।

विद्याधर—भद्रे! आज मुझे भूमिगोचरी राजा से मिलना अत्यन्त आवश्यक है। न मिलने से हानि होगी, अत: जल्दी क्या है, कल वनविहार किया जायेगा।

इस प्रकार अपनी स्त्री को समझा-बुझाकर घर छोड़ आया और शीघ्र ही

विमान लौटा कर चम्पापुर के उद्यान में झूलती हुई अनन्तमती के पास पहुँचा। अनन्तमती उस विद्याधर को देखते ही भय से मूर्छित हो गयी, जिस प्रकार मुर्दे को अन्धेरे में देखकर कायर व्यक्ति होश खो देता है, वधिक को देखकर गाय का रक्त सूख जाता है उसी प्रकार अनन्तमती उस कामी विद्याधर को देखते ही अपनी चेतना खो बैठी। जब उसकी चेतना लौटी तो उसने अपने को विमान में पाया। तत्क्षण ही अपने बुद्धि-कौशल से सारे रहस्य को समझ गयी और अपने ऊपर आयी हुई विपत्ति देखकर पञ्च नमस्कार मन्त्र का जाप करने लगी। उसने वीतरागी प्रभु का ध्यान करना शुरू किया तथा व्रत रक्षा पर्यन्त अन्न-जल का त्याग कर आत्मचिन्तन में वह लग गयी।

सुकेशिनी को अपने पति पर सन्देह हो गया था, वह उसके कपट जाल को बहुत कुछ समझ गयी थी अत: उसने अवलोकिनी विद्या का स्मरण किया। प्रकट होकर अवलोकिनी विद्या ने विद्याधर के समस्त कुकृत्यों की कथा प्रत्यक्ष देखी बतलाई और जब उसे अपने पति की करतूत मालूम हो गई तो वह क्रोध से काँपने लगी, उसकी आंखें लाल हो गई, दांत कटकटाने लगे और मुंह से अस्पष्ट बड़-बड़ाने की आवाज निकलने लगी। सुकेशिनी रौद्ररूप धारण कर दण्ड हाथ में लिये विमान पर आरूढ़ हो अपने पति के पास आई। कुण्डलमंडित विद्याधर ने जब अपनी स्त्री के इस रौद्रवेश को देखा तो उसके प्राणसूख गये और उसने तत्क्षण लघुपर्ण विद्या का स्मरण किया तथा उसे आदेश दिया कि शीघ्र ही इस अनन्तमती को पृथ्वी पर उतार दो। आदेश पाकर विद्या ने भीम नामकअरण्य में सघन आम्र छाया में जाकर उसको उतार दिया।

इस भयंकर जंगल में चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार था। कभी सिंह की दहाड़ सुनाई पड़ती थी तो कभी हाथियों की चिंघाड़। स्यार, सारंग आदि भी अपनी-अपनी बोलियां बोलकर भय को बढ़ाने में कुछ कम मदद नहीं पहुँचा रहे थे। भय और आंतक ने वहाँ अपना साम्राज्य कायम कर लिया था। अनन्तमती दु:ख के कारण लम्बी-लम्बी सांसे खींचने लगी और अपने मन को समझाती हुई कहने लगी—अचानक आये हुए असाता कर्म के उदय को सहना पड़ेगा। जीव जो कुछ अच्छा या बुरा करता है, उसका उदय उसे भोगना पड़ता है। मैंने पूर्वजन्म में अवश्य

खोटे कर्म किये हैं, अब उनका उदय आने पर मैं क्यों घबड़ाती हूँ। जो विपत्ति को शान्ति और धैर्य के साथ सहन करता है, उसके कार्यों की निर्जरा हो जाती है। परन्तु जो व्यक्ति घबड़ा जाता है और विपत्ति में हाय-हाय करता है उसका कर्म बन्धन और दृढ़ होता चला जाता है। अतएव मुझे प्रभु चरणों का स्मरण करते हुए इस अचानक आये हुए कष्ट को सहना पड़ेगा। उसकी विचारधारा पुनः आगे बढ़ी और सोचने लगी—जब मैं पैदल चार-पांच कदम जाती थी तो पिता मुझे गोदी में बैठा कर चलते थे, माता-पिता मुझ पर अपार स्नेह करते थे, मेरी परिचारिकाएं मेरी सेवा में दिन रात उपस्थित रहती थीं, वे अब कहाँ चली गयीं? मेरी सखियां जो सर्वदा मेरे ऊपर स्नेहामृत उड़ेलती थी, वे अब कहाँ चली गईं? आत्मीय परिजन, हितैषी, मित्र आदि कोई भी साथ देने वाला नहीं होता। जो मैंने आगम में स्वाध्याय करते समय पढ़ा था, वह अब प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ रहा है। यन्त्र, मन्त्र, मणि, औषध आदि भी पुण्योदय तक साथ देते हैं, पुण्य के क्षीण होते ही ये सारी वस्तुऐं निष्प्रभ हो जाती हैं। जिस प्रकार गाड़ी में धुरा के रहने पर गाड़ी आगे चलती है, धुरा के टूटते ही गाड़ी का चलना बन्द हो जाता है, उसी प्रकार पुण्य के धुरा के रहने पर ही जीव के सारे कार्य निर्विघ्न चलते हैं। हितैषी मित्र साथ देते हैं, पुण्य नष्ट होते ही मित्र भी शत्रु बन जाते हैं। हाथ पर रखा धन विलीन हो जाता है। राज्य समाप्त हो जाता है, वैभव धूल में मिल जाता है और सम्मान अपमान के रूप में परिवर्तित हो जाता है। हाथी, घोड़ा, सेना, दुर्ग आदि कोई भी वस्तु मनुष्य को कष्ट से नहीं बचा सकती है। धर्म ही शरण है, यही विपत्ति में जीव को शान्ति देता है और यही सब कष्टों से त्राण करता है।

अनन्तमती पुनः विचारने लगी कि जरा सी देर के लिये भी जब मैं इधर-उधर चली जाती थी, तो मेरे माता पिता मेरे लिये बेचैन हो जाते थे, अब मेरे बिना मेरे कुटुम्बियों की, प्रेमिल सखियों की क्या स्थिति होगी? संसार में कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है, अतः साता के उदय से मिलने वाला यह सुख कैसे स्थिर हो सकता है। दुःख और सुख दोनों ही एक तराजू के पलड़े हैं, कभी दुःख का पलड़ा भारी हो जाता है, तो कभी सुख का। इस जीव ने स्वर्ग में सुख भोगा, नरक में बहुत काल तक दुःख भोगता रहा। तिर्यञ्च गति में वाणी के बिना मूक रह कर अनेक

प्रकार के कष्ट सहे। अब बड़ी कठिनाई से इस जीव को यह मनुष्य पर्याय मिली है। जो इस अमूल्य पर्याय को प्राप्त कर आत्म कल्याण नहीं करता है, उसका जीवन यों ही बीत जाता है। धर्म के सिवा अन्य कोई भी संसार में हितकारी नहीं है। धन, धान्य, विभूति, वैभव, माता, पिता, पुरजन, परिजन ये सभी अनित्य हैं, विनाशीक हैं। धर्म ही एक ऐसी वस्तु है जो इस जीव को नाना प्रकार के कष्टों से बचा सकता है। राज्य, रूप, महिमा, बल, वीर्य, पराक्रम, सुख, विलास, ऐश्वर्य, धन, यौवन ये सभी इन्द्रधनुष के समान अस्थिर हैं। यह जीव पुण्योदय से ऐश्वर्यवान् होता है, और पापोदय से गरीब। संसार के सुख, दुःख को अकेला यह जीव ही भोगता है, अन्य कोई भी सहायक नहीं होता।

यह शरीर अत्यन्त अपवित्र है, यह नसों के जाल से बंधा हुआ मांस का लोथड़ा है। हड्डियों का ढांचा है, खून-पीव पदार्थों का समुदाय इस शरीर में है। चमड़े से ढका होने के कारण यह सुन्दर लगता है, इससे मल, मूत्र जैसे दुर्गन्धित पदार्थ निकलते रहते हैं। नरक में इस जीव को कितने महान् दुःख का सामना करना पड़ता है। वहाँ इसको सर्दी, गर्मी का महान दुःख सहना पड़ता है, साथ ही वहाँ की भूमि के स्पर्शमात्र से इसे इतना कष्ट होता है, जिससे लाखों करोड़ों बिच्छुओं के काटने की अनुभूति होती है। शरीर तलवार से काटा जाता है, कोल्हू में पेला जाता है, आग में जलाया जाता है, सुइयों से छेदा जाता है। आरे से सिर से लेकर पैर तक चीर डालते हैं, गर्म तेल में डालकर पकाते हैं। तीक्ष्ण शरीर को जलाने वाली वस्तुओं का लेप शरीर में किया जाता है। गर्दन काट दी जाती है। इस प्रकार छेदने, भेदने, भूख, प्यास आदि नाना प्रकारों के कष्ट इस जीव ने नरकों में कितनी ही बार सहे हैं। यहाँ मुझे केवल भूख, प्यास, सर्दी का कष्ट, गर्मी का कष्ट हो रहा है, यह कष्ट नरक के कष्टों के सामने कुछ भी नहीं है। यहाँ न मुझे कोई जला रहा है, न कोई काट रहा है, न कोई कोल्हू में पेल रहा है और न कोई सूइयों से छेदन कर रहा है, तब यह दुःख तो नरक के दुःखों से बिल्कुल कम है, अतः मुझे धैर्यपूर्वक पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति करनी चाहिये। मेरा कल्याण प्रभु के ध्यान में ही है, इससे बढ़कर और कुछ उद्धार का उपाय नहीं है।

व्रत पालते हुए इस क्षणिक दुःख का सहन करना कठिन नहीं, पर व्रत के अभाव में सुख का अनुभव करना भी कठिन है। अतः उत्तम मनुष्य गति को प्राप्त

कर तथा उत्तम कुल में जन्म लेकर व्रतों का पालन करना परमावश्यक है। जिस प्रकार हाथी जंगल को नहीं छोड़ता, शिशु मां के बिना नहीं रह सकता, स्त्री पति के बिना नहीं रह सकती है, उसी प्रकार व्रतों के बिना मेरा रहना निरर्थक है। व्रत ही इस जीव का कल्याण करने वाले हैं, शरीर में प्राण रहते हुए व्रतों का पालन करना परमावश्यक है इस प्रकार विचार करती हुई अनन्तमती प्रभु स्तुति में लीन हो गई।

इस समय अनन्तमती के पास सिंह, गाय, हाथी, घोड़ा, सांप, नौले, मयूर, कोयल, काक आदि सभी जीव आपस के वैर विरोध को छोड़कर प्रेम से रहने लगे और अनन्तमती के पास शान्तरस का आस्वादन कर साख्यभाव को प्राप्त हुए।

इस जंगल के पास शंखपुर नाम का एक गांव था। इस गांव में एक वनचर लुटेरा रहता था, वह जब जंगल में आया तो अपूर्व लावण्यमती अनन्तमती को देखकर और उसे देवी समझ आनन्दित हुआ। उसने फल, फूल तोड़कर उसकी पूजा की और प्रार्थना करने लगा—हे देवी हमारी रक्षा कीजिये, हम आपकी शरण में हैं। यह लुटेरा भीमारण्य से चलकर शंखपुर में आया और अपने सरदार से हाथ जोड़कर बोला—स्वामिन्! आज इस अरण्य में एक देवी आयी है, आप चाहें तो उनसे कुछ वरदान मांग लें। सरदार उसके वचनों को सुनकर भीमारण्य में आया और अनन्तमती को देखकर कहने लगा—यह देव कन्या नहीं है, मानुषी है। यह अनुपम सुन्दरी है; इतना रूप तो आज तक नहीं देखा। इस प्रकार वह अनन्तमती को देखते ही मोहित हो गया तथा अपने वैभव का वर्णन उसके सामने करता हुआ बोला—आपके समान कोई भी प्रतापी सती नहीं है, आपने अपार सौन्दर्य प्राप्त किया है, आपका कटाक्ष मेरे ऊपर चल गया है, अतः आप मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लीजिये और सुख से रहिये। अनन्तमती उसके कुत्सित प्रस्ताव को सुनकर आत्मस्वरूप का चिन्तन करती हुई पंचनमस्कार मन्त्र का स्मरण करने लगी।

भिल्लराज अनन्तमती को मौन देखकर क्रोधित हो गया, उसकी मूंछे तन गयीं और ताल ठोककर बोला—अभी समय है, मेरी बात स्वीकार कर लीजिये। यदि आपने मेरी इच्छा पूर्ण कर दी तो फिर अपूर्व सुख प्राप्त करेंगी, सदा सहस्रों नर-नारी आपकी सेवा में प्रस्तुत रहेंगे। कोई भी आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर

सकेगा। मैं सदा आपका दास होकर रहूँगा। यदि आपने मेरी बात नहीं मानी तो इसका परिणाम बुरा होगा, आज्ञा भंग करने का दण्ड आपको भोगना पड़ेगा। यह आप जानती हैं कि इस जंगल में आपकी रक्षा कोई नहीं कर सकेगा, आपको अपना शरीर तो मुझे सौंपना ही है, यदि राजी से आप मान जायेंगी तो अच्छा है, अन्यथा मुझे जबरदस्ती करनी पड़ेगी। इस प्रकार डांट फटकार कर भिल्लराज अनन्तमती के पास अपने किसी आदमी को छोड़कर चला गया और उसे सावधान कर कह गया कि तुम यहाँ से एक मिनट के लिये भी इधर-उधर मत जाना। इस सुन्दरी पर अपनी पूरी दृष्टि रखना, कोई जंगली जानवर इसका अनिष्ट न करने पावे।

भिल्लराज के जाने के पश्चात् अनन्तमती विचारने लगी कि मैं ब्रह्मचर्य व्रत को कभी नहीं छोड़ सकती हूँ, व्रत सहित प्राण देना भी मुझे स्वीकार है, किन्तु व्रत रहित एक घड़ी जीवित रहना भी नहीं। मैं अपने प्राण दे सकती हूँ पर इस व्रत को नहीं छोड़ सकती। इस प्रकार ऊहा-पोह कर उसने उपसर्ग के अन्त होने तक के लिये आहार-पानी का त्याग तथा कषायों का त्याग कर सल्लेखना ग्रहण कर ली।

अनन्तमती के ऊपर आये हुये उपसर्ग को देखकर स्थानीय यक्षिणी देवी का आसन कम्पित हो गया और अनन्तमती की परीक्षा करने के लिये उस देवी ने रात में भिल्लराज का रूप धारण कर कहा—हे कमलमुखी! मेरे रूप-सौन्दर्य की तरफ देखो मेरे साथ रहने से तुम्हें सब प्रकार का सुख प्राप्त होगा। तुम्हें अपनी पट्टमहिषी बना दूँगा, रानी बनकर तुम संसार का सुख लूटना। अभी तुम अविवाहित हो, तुम्हें किसी न किसी के साथ विवाह करना ही है, फिर क्यों निरर्थक तकलीफ उठाती हो? तुम्हारे शीलव्रत में जरा भी कलंक नहीं लगेगा। हे रति, रम्भा, भारती, तिलोत्तमा—तुम मेरे ऊपर विश्वास करो और आनन्द से राज्य का सुख लूटो; अपने जीवन को सार्थक बनाओ। तुम एक बार मेरी ओर प्रेम की दृष्टि से देखो, मैं कितना सुन्दर हूँ। हे मृगनयनी! तुम मुझे कुरूप मत समझो—तुम्हें इतना सुन्दर पति स्वर्ग में भी नहीं मिलेगा। इस प्रकार नाना प्रकार के प्रलोभनों द्वारा अनन्तमती को विचलित करने की चेष्टा की, पर अनन्तमती सुमेरु के समान दृढ़ रही। उसकी दृढ़ता को देखकर देवी किरातरूप को छोड़ प्रत्यक्ष हो कहने लगी—भगवान् जिनेन्द्र

के समान संसार में कोई भी देव नहीं है, उनकी भक्ति से संसार के सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं, भक्त के चरणों की दासी लक्ष्मी बन जाती है। देवी! तुम धन्य हो, तुम्हारी अद्वितीय महत्ता है, तुम्हारी जितेन्द्रियता प्रशंसनीय है; संसार का कोई भी प्रलोभन तुम्हें विचलित नहीं कर सका। अब तुम्हारे सभी उपसर्ग दूर हो गये, ध्यान छोड़िये। मैंने किरात भेष धारण कर तुम्हारी परीक्षा ली थी, तुम इसमें उत्तीर्ण हो गयीं। मैं अब तुम्हारी रक्षिका हूँ, संसार की कोई भी शक्ति तुम्हें हानि नहीं पहुँचा सकती है। आप मेरे ऊपर विश्वास कीजिये, मैं यक्षिणी देवी हूँ इतना कहकर देवी अदृश्य हो गयी। अनन्तमती सोचने लगी—मैंने स्वप्न तो नहीं देखा है, क्या वास्तव में देवी आयी थी?

प्रात:काल भिल्लराज अपने साथियों के साथ वहाँ आया और अनन्तमती के चरणों में गिरकर पूजा करने लगा। मुझे अपने कृत्यों की सजा मिल गई, आप शीलवती देवी हैं, आपके समान इस मध्यलोक में शायद ही कोई नारी होगी, आप जहाँ जाना चाहें, आपको सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देंगे। अनन्तमती को अब उसके ऊपर विश्वास हो गया और वह उसके साथ अयोध्या के लिये चल दी कुछ दूर तक भिल्लराज ने उसे रास्ता बता दिया, पश्चात् वह लौट गया। अनन्तमती अयोध्या की ओर जंगल में चलने लगी; रास्ते में एक मन्दिर मिला। वह भगवान् के दर्शन करने उस मन्दिर में गई। वहाँ पर एक वैश्य पुत्र को देखा; जो भगवान के दर्शन करने आया था। वह वणिक् पुत्र अनन्तमती को देखकर बोला—आप कहाँ रहती हैं? आपके माता-पिता कौन हैं? कहाँ से आयी हैं? किसलिये अकेली भ्रमण कर रही हैं?

अनन्तमती—सखी क्षमा है, पुत्र शील है, सदा अक्षुण्ण रहने वाली सम्पत्ति सदाचार है, निर्मल दया माता, सत्य मेरा दादा, गुण मेरे भाई, तत्त्वचिन्ता मेरी पुत्री, सम्यक्त्व मेरा पिता, संयम मेरा घर और सुदूरवर्ती मोक्ष मेरा देश है तथा जिनेश्वर का वचन—आगम मेरा नगर है। अनन्तमती के इस उत्तर को सुनकर वह वणिक् पुत्र बहुत प्रभावित हुआ और सोचने लगा कि यह निकट भव्य है अत: इसे अपने घर ले जाना चाहिये। इस प्रकार विचार कर उसने कहा—तुम मेरी बहन के तुल्य हो, मेरे घर चलकर आनन्द से रहो। अनन्तमती भी उसके सद्विचारों को अवगतकर

उसका विश्वास कर उसके घर चली गयी। वह अपनी स्त्री गुणवती से बोला—इसका पुत्री समझकर पालन करना। मैं जब तक व्यापार करके वापस न लौटूँ, इसका यथोचित् पालन और संरक्षण करना। यह हमारा परम सौभाग्य है कि इतनी बड़ी धर्मात्मा कन्या प्राप्त हुई है, इस प्रकार कहकर व्यापार के लिये चला गया।

गुणवती अनन्तमती का अद्‌भुत रूप-लावण्य देखकर सोचने लगी—यह अप्सरा के समान सुन्दर है, यह चन्द्रमा की स्त्री रोहिणी से भी अधिक रूप-लावण्यवती है, यह मनुष्य स्त्री नहीं, किन्तु स्वर्ग की कोई देवाङ्गना है। जैसे प्रात:कालीन सूर्य दर्शन से शरदऋतु में लोग तृप्त नहीं होते हैं, इसी प्रकार वह इकटक होकर उसके रूप-सौन्दर्य का पान करने लगी। परन्तु उसके मन में एक खटका उत्पन्न हो गया, वह सोचने लगी कि मेरा यौवन और रूप ढल रहा है, यदि कदाचित् मेरा पति आकर इससे विवाह कर लेगा तो मुझे सदा इसके आधीन रहना पड़ेगा, अत: इस विपत्ति को पतिदेव के लौटने के पहले ही दूर कर देना श्रेयस्कर होगा। इस प्रकार निश्चय कर व्याली नामक कुट्टिनी को बुलाया और उसके हाथ अनन्तमती को बेच दिया। अनन्तमती कुमारी इस विपत्ति में पड़ कर सोचने लगी—पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों का यह फल है, चाहे मेरे ऊपर कितनी विपत्तियाँ क्यों न आवें, पर मैं प्राण रहते हुए इस ब्रह्मचर्य व्रत को नहीं छोड़ सकती हूँ। धर्म ही मेरा रक्षक है, दुष्ट भाग्य क्या-क्या खेल दिखलाता है। पंचपरमेष्ठी के चरणों की शरण ही मेरे लिये अब सब कुछ है। इस प्रकार ध्यान स्तवन करती हुई अन्न-जल छोड़कर प्रभु-भक्ति में लीन हो गई।

कुट्टिनी—कुमारी! तुम पागल क्यों हो रही हो? तुम्हें अपने शरीर का ख्याल करना चाहिये। श्रृंगार करो और स्वच्छ वस्त्र पहन कर अपने पलंग पर बैठ जाओ। हमारा तो यह पेशा ही ऐसा है कि जब तक हम अपना बनाव श्रृंगार न करेंगी, हमारे यहाँ कोई फटकेगा भी नहीं। तुम सन्यासिनी क्यों बन रही हो, अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है? खेलने के दिन हैं। संसार का आनन्द लेना चाहिये, इस अपार रूप-यौवन को प्राप्त कर यों ही खो देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? देखो तुम बनो मत, तुमने कितने ही व्यक्तियों के मन को चुरा लिया है। सहस्रों व्यक्ति तुम्हारे चरणों के दास बनने को प्रस्तुत हैं, तुम रानी बनकर संसार के सुखों को भोगो।

हे पुत्री मैं तुझ से सच कहती हूँ, तेरे सामने अप्सरा भी कोई वस्तु नहीं है। हमारे सुख के दिन तेरी एक चितवन पर निर्भर हैं।

अनन्तमती हंसकर—विषयी मूर्ख प्राणी बिजली की चमक के समान क्षणिक विषय भोगों को शाश्वत मानते हैं। इन नरक के कीड़ों को धर्म-कर्म कुछ भी नहीं सूझता है। मनुष्य पर्याय को यह क्षुद्र प्राणी यों ही खो देते हैं। ब्रह्मचर्य की महत्ता को वेश्या क्या समझ सकती है। सम्यग्दर्शन का स्वरूप विषयी कुत्ते क्या समझेंगे? आत्मा का हनन कर विषयों के कुएं में गिरना कितनी बड़ी बेवकूफी है? तुमने मुझे पुत्री कहकर सम्बोधित किया है, अतः मां के पद पर आरूढ़ होकर मुझे कुमार्ग के लिये प्रोत्साहन देने में तुम्हारी यह जीभ गल क्यों नहीं गई? तुमसे ऐसे पापपूर्ण वचन क्यों निकले? मेरी यही प्रार्थना है कि मुझे छोड़ दीजिये, मेरा मन जिधर चाहेगा चली जाऊँगी। इतना कहकर वह मौन हो गई।

कुट्टिनी—अरी कल की छोकरी! तू अभी समझती नहीं है, मैं सामान्य नहीं हूँ, मैंने तेरे समान कितनी ही रूपवतियों को ठीक कर दिया है। जिसे तुम नरक कहकर बदनाम करती हो, वह वास्तव में स्वर्ग है। तुम एक बार भी यदि यहाँ के आनन्द का आस्वादन कर लोगी तो फिर कभी ऐसे वचन नहीं कहोगी। कोई बात नहीं है, पहले-पहल सभी की यही हालत होती है। दो चार दिन में तुम्हारी लज्जा छूट जायेगी, फिर तो तुम इस प्रकार फँसाने लगोगी जैसे मछुआ अपने जाल में मछलियों को फंसाता। एक नहीं, मैं ऐसी अनेक घटनाओं से परिचित हूँ। पहले ऐसा सत दिखलाती हैं जैसे मालूम होता है कि इनके समान 'न भूतो, न भविष्यति' कोई है, ही नहीं। जीवन का रस जब तुम्हें अनुभूत हो जायेगा तब तुम इस ढोंग को छोड़ दोगी।

इस प्रकार नाना प्रकार से समझा बुझा कर वह वेश्या अपने कमरे में चली गई। इधर अनन्तमती ने उपसर्ग आया हुआ जानकर मर्यादा पूर्वक कुछ समय के लिये समाधिमरण ग्रहण कर लिया। उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक यह उपसर्ग नहीं टलेगा मैं अन्न-पानी ग्रहण नहीं करूँगी। वह आत्मा की आलोचना में तत्पर हो पंचपरमेष्ठी का ध्यान करने लगी। णमोकार मन्त्र का आश्रय ही इस समय उसके प्राणों का रक्षक था।

जब वेश्या ने देखा कि यह इस तरह मानने वाली नहीं है तो उसने सोचा कि इसे राजा के हाथ बेच देना ही उपयुक्त होगा। इस अनुपम सुन्दरी को प्राप्त कर राजा अत्यन्त प्रसन्न हो जायेगा और मुझे अपार धन देगा, जिससे मेरे जन्म जन्मान्तर का दारिद्र दूर हो जायेगा। इस समय सबसे बड़ी बुद्धिमानी यही होगी कि इसे राजा के पास पहुँचा दिया जाय। खाना-पीना यह छोड़ चुकी है, यदि मर जायेगी तो मेरा धन ऐसे ही बरबाद हो जायेगा। इस प्रकार विचार-विनिमय कर वह उसे राजा सिंहव्रत के पास ले गयी और दरबार में जाकर बोली-देव! इस रमणीरत्न को आपकी सेवा में अपर्ण करने आयी हूँ। यह अनाघात कलिका आपके उपभोग करने योग्य है। दासी ने इसे पाने के लिये अपार धन खर्च किया है। राजा भी उस दिव्य सुन्दरी को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उस वेश्या को विपुल धन राशि देकर विदा किया।

राजा अनन्तमती से बोला—हे कमलमुखी! तुम्हारे रूप का जादू मुझ पर चल गया है, मेरे समस्त अंगोपांग शिथिल हो गये हैं, तुम्हें देखते ही मैं बेचैन हो गया हूँ, मेरा मन किसी भी काम में नहीं लगता है। हे वनितारत्न! तुम्हें इतना रूप लावण्य कहाँ से मिला? मैं निश्चय से अपने राज्य, भंडार, भृत्यवर्ग, पट्टरानी, कोष, सेना आदि को आपके चरणों में अर्पित करता हूँ। आप मेरी मनोकामना पूर्ण कर सब की स्वामिनी बनिये; मैं सदा अपने राज्य सहित आपका आदेश पालता रहूँगा।

आप तनिक प्रेम पूर्ण दृष्टि से मुझे देखिये, मुझ घायल पर अपने स्नेहामृत का सिंचन कीजिये। आप इतनी दयालु होकर, निष्ठुर क्यों हो रही हैं? क्या मुझे दया का पात्र नहीं मानतीं? आप प्रसन्न हो जाइये, मैं आपको पट्ट महिषी के पद पर प्रतिष्ठित करना चाहता हूँ। आप इस पद पर लक्ष्मी के समान पूजा, सुख, प्रतिष्ठा और आनन्द प्राप्त करेंगी। राजकुमार, अमात्य, मन्त्री, पुरोहित आदि सभी आपकी आज्ञा में तत्पर रहेंगे। इस प्रकार कहकर उसने अनन्तमती का हाथ पकड़कर अपने मस्तक पर रख लिया और पुनः कहने लगा—रमणीरत्न तुम्हारा यह मौन तो मेरे लिये काम बाण बन गया है, अब अधिक देर तक तुम्हारा मौन मुझे सहन नहीं है। आप कब तक मुझे कष्ट देती रहेंगी? इस प्रकार मधुर वचन कहकर उसे पकड़ अपने शयनागार की ओर ले गया।

अनन्तमती पञ्चपरमेष्ठी के ध्यान में लीन थी, उसे राजा की बातों का बिल्कुल पता नहीं था। उसके मुख पर अद्‌भुत तेज विद्यमान था। सतीत्व की किरणें निकल रही थी, व्रतों के प्रभाव के कारण राजकुमार अनन्तमती से डर रहा था। उसके दिव्य तेज के समक्ष उसकी पाशविक वासना भाग रही थी, परन्तु राजमद उसे अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये उत्तेजित कर रहा था।

जब अनेक प्रयत्न करने पर भी राजा अनन्तमती के मौन को न खोल सका तो उसके मन में ईर्ष्या की अग्नि जलने लगी और उसे अनन्तमती के ऊपर अपार क्रोध हो आया। राजा सोचने लगा—मैं राजा होकर इस दीन स्त्री से कब से प्रार्थना कर रहा हूँ, परन्तु यह मेरी प्रार्थना सुनना ही नहीं चाहती है। इतने सुन्दर रूप को धारण करने वाली यह कोई दुष्ट स्त्री है, अन्यथा मेरा प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार करती। अतएव अब इसके साथ सख्ती करनी पड़गी। सीधी अंगुली से घी नहीं निकलता है, राजनीति बड़ी दाव-पेंच वाली होती है इस समय इसी का प्रयोग करना पड़ेगा।

जब राजा उसके साथ अभद्र व्यवहार करने लगा तो अनन्तमती वायु के झोंकों से प्रताड़ित लत्ता के समान काँपने लगी और पञ्चपरमेष्ठी के गुणों का चिन्तन करती हुई आत्म स्वरूप में स्थिर हो गयी। दासियां प्रेम पूर्वक समझाने लगीं कि राजा साहब की बात मान जाईये, आपको सब प्रकार से सुख मिलेगा। आप वैभव, विलास, ऐश्वर्य, भोग-विलास का त्याग क्यों करती हैं? ऐसा सौभाग्य बड़े पुण्योदय से मिलता है। पट्टरानी से बढ़कर स्त्री पर्याय की सार्थकता और क्या हो सकती है? जिस पद से लिये लोग प्रयत्न करते हैं, नारियाँ तपस्या करती है, आपको यह पद इतनी आसानी से मिल रहा है, यह कम गौरव की बात नहीं है।

अनन्तमती अपने व्रत में इस प्रकार दृढ़ थी, जिससे दासियों की बातें वह सुनकर भी अनसुनी कर देती थी। उसके अन्तरंग में जिनेन्द्र प्रभु की मूर्ति विराजमान थी, वह उनके दर्शन कर अनुपम लाभ ले रही थी। अपनी चेतना को खोकर अनन्तमती ने प्रभु चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया था। मनसा, वाचा और कर्मणा वह वीतरागी प्रभु का स्मरण कर रही थी। यद्यपि उसका दिव्य तेज राजा से सहन नहीं हो रहा था, फिर भी अपनी हठ पूरी करने के लिये वह उस सती का मन सब तरह से विचलित करने पर उतारू था।

सिंहरत्न राजा ने जब अपने समस्त प्रयत्नों को निष्फल देखा तो वह आपे से बाहर हो गया और स्वयं उठकर अनन्तमती को एक लात मारी और परिचारिकाओं को बुलाकर पिटवाना शुरू किया। जितने भी नौकर चाकर आते थे, सभी अनन्तमती को लाठी, जूते और घूसों से मारते थे, जिससे उसका शरीर सूज गया। परन्तु आश्चर्य की बात यह थी कि अनन्तमती को जितना मारा पीटा जाता था, वह उतनी ही अपने व्रत में स्थिर होती जा रही थी। उसके मुख पर दिव्य तेज विद्यमान था, शरीर से मोह छोड़ देने के कारण उसमें अपूर्व दृढ़ता आ रही थी। वह निर्दयी राजा के अत्याचारों को भगवान् जिनेन्द्र के चरणों का स्मरण करती हुई धैर्य के साथ सहने लगी। अनन्तमती को अपने शरीर की कुछ भी चिन्ता नहीं थी, केवल उसका ध्यान अपने व्रत की रक्षा की ओर था।

उस अबला धर्मात्मा अनन्तमती के ऊपर होने वाले अत्याचारों के कारण उस नगर के शासन देव का आसन हिला और उसने अपने ज्ञान के बल से सारी घटनाएं अवगत कर लीं। अनन्तमती के पास आकर हाथ जोड़ उसे प्रणाम किया और ललकार कर कहने लगा—रे दुष्टों सावधान! एक अबला पर अत्याचार करते हुये शर्म नहीं आती। तुम्हारी करनी का फल अब तुम्हें तुरंत मिलता है, ऐसा कहते ही राजा, अमात्य, सेनापति आदि सभी के ऊपर मार पड़ने लगी। आश्चर्य की बात यह थी कि मारने वाला कोई नहीं दिखलाई पड़ता था। कोड़े लगने के कारण सभी के शरीर से खून निकलने लगा, सभी मुंह से खून वमन करने लगे। राजा, अमात्य आदि मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़े, किन्तु वह अप्रत्यक्ष मारनेवाला दिखलाई न पड़ा और न कोड़े पड़ना ही रुका।

सर्वत्र चीत्कार सुनाई पड़ रही थी, इनके करुण क्रन्दन से नगर में बेचैनी व्याप्त थी। राजा सिंहरत्न की बड़ी विचित्र स्थिति थी। जिस प्रकार चूहेदानी में फंसा चूहा कहीं भागने का रास्ता न पाकर छटपटाता है, उसी प्रकार राजा, अमात्य, राजकुमार आदि सभी अपनी रक्षा का उपाय न देखकर क्रन्दन कर रहे थे। नगरवासी भी वहाँ एकत्रित होकर तमाशा देख रहे थे, किन्तु उनकी रक्षा कोई भी नहीं कर सका, सभी असमर्थ हो टुकुर-टुकुर देखने लगे। नगरवासी प्रार्थना करने लगे—हे प्रभो! यह उपसर्ग कैसे दूर किया जायेगा?

सुमेरु के समान स्थिर और पंचनमस्कार मन्त्र के ध्यान में लीन कुमारी को देखकर शासन देव प्रसन्न हो स्तुति करने लगा—हे अनन्तमती! जो भगवान् की भक्ति में निरन्तर लीन रहते हैं, उनकी आराधना और सेवा आबालवृद्ध सभी करते हैं। जो मोहावेश में आकर प्रभु-भक्ति का तिरस्कार करता है, वह अत्यन्त नीच है। जिसके पास धर्म रहता है, उसके पास संसार की सभी अलभ्य वस्तुएं है। व्रत भूषित व्यक्ति यदि भगवान् के चरणों की भक्ति करता है तो उसे संसार के सभी दुर्लभ पदार्थ अपने आप प्राप्त हो जाते हैं। आप धन्य हैं, देवी आपके गुणों की जितनी प्रशंसा को जाय थोड़ी है। जो विपत्ति में स्थिर रहता है, ईति-भीति से नहीं घबड़ाता है उसके लिये किसी भी वस्तु की कमी नहीं रहती। विपत्ति में लोग घबड़ा जाते हैं, किन्तु जैनागम के अध्ययन करने वाले रंचमात्र भी नहीं घबड़ाते हैं यही उनकी विशेषता होती है।

मेरा किसी के द्वारा अशुभ नहीं हो सकता है, जो यह निश्चय कर लेता है तथा पाप कार्य को छोड़ पुण्य कार्यों में प्रवृत्ति करता है और जिनागम के अनुसार अपना प्रत्येक कार्य करता है, उसे सच्चा जैन मानना चाहिये। संसार में शरीर, धन, यौवन को क्षणभंगुर समझ कर जो शाश्वत सुख को प्राप्त करता है वह आत्मज्ञ जैन है। स्वर्ग और अपवर्ग की प्राप्ति धर्म से ही होती है। धर्म आत्मा के वास्तविक स्वभाव का आचरण करना है जो आत्मज्ञ व्यक्ति इस धर्म का आचरण करता है, उसके समान संसार में कोई नहीं हो सकता। जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव जलाना, पानी का स्वभाव शीतलता, वायु का स्वभाव बहना है उसी प्रकार आत्मज्ञ का स्वभाव ज्ञान दर्शनमय है। आत्मज्ञ इसी स्वभाव को प्राप्त करने का यत्न करता है। पूजा-पाठ तभी तक धर्म की कोटि में है, जब तक व्यक्ति आत्मज्ञ नहीं बनता है। आत्मज्ञ हो जाने पर, कर्त्तव्य समझकर शुभाश्रव के कार्यों को व्यक्ति भले ही करे, परन्तु धर्म का वास्तविक रूप वह कुछ और ही समझता है। विषय आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। ये स्वयं अचेतन है, आत्मा को विभाव परिणति के कारण इनमें प्रवृत्ति होती है। जो विवेकी हैं, वे इनमें प्रवृत्ति नहीं करते, इनसे आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं मानते। कुमारी अनन्तमती तुमने धर्म के वास्तविक रूप को समझ कर जैन धर्म की शान रखी, तुम्हारी आत्मज्ञता प्रशंसनीय है। तुम्हारी चरण रज जो

सिर पर धारण करेगा, वह अवश्य ही इस संसार से पार हो जायेगा। इस प्रकार शासन देव स्तुति करता रहा, आकाश से पुष्पवृष्टि होने लगी, दुन्दुभि बाजे बजने लगे और कुमारी का जयघोष सुनाई पड़ने लगा।

देव ने राजा सिंहव्रत से कहा कि तुम अपने अपराधों की क्षमा यदि कुमारी से मांगो और इसके चरणों में अपना सिर रगड़ो तो मैं तुम्हें छोड़ सकता हूँ, मैं तो धर्मात्माओं का सेवक हूँ, तुमने बड़ा भारी अनर्थकारी काम किया है। तुम विषयी कीड़े हो, अतः जल्दी ही क्षमा याचना करो, अन्यथा तुम्हारे प्राणों का अपहरण हो जायेगा।

राजा सिंहव्रत ने अनन्तमती के चरणों में गिरकर अपने अपराधों की क्षमा याचना की और अपनी पट्टमहिषी सहित उसके चरणारविन्दों की पूजा की। पश्चात् हाथ जोड़कर कहने लगा—हे धर्ममूर्ते! मैंने बिना जाने बड़ा अपराध किया है, मेरे समान संसार में अन्य कोई पापी नहीं होगा। राजा का कार्य प्रजा की रक्षा करना है तथा अनाथ दीन दुखियों के कष्टों को दूर करना राजा का परम कर्त्तव्य है, किन्तु मैंने यह कार्य न कर अपने कर्त्तव्य की अवहेलना की है। इस समय मेरे मन में बड़ी अशान्ति है, मेरा पाप मुझे काटने दौड़ता है। यह सारा राज्य और धन-वैभव आपके चरणों में समर्पित है, आप जैसे चाहें मेरी रक्षा करें। राजा के इस प्रकार विनय युक्त वचन सुनकर अनन्तमती बोली—राजन्! धर्म से बढ़कर संसार में कोई वस्तु हितकारी नहीं है, आप धर्म में स्थिर हो जाइये। धर्म ही जीव को शान्ति देने वाला है, इसके धारण करनेसे अनुपम सुख की प्राप्ति हो सकती है।

राजा ने राजश्रेष्ठि जिनेन्द्रदत्त को कुमारी अनन्तमती को सौंप दिया। सेठ अपने घर लाकर उसका पालन-पोषण करने लगा। अनन्तमती चैत्यालय में जाकर भगवान् की पूजा भक्ति में रत रहने लगी। रत्नत्रय का पालन करती हुई आत्मस्वरूप का चिंतन करने लगी। उस चैत्यालय में कमलश्री नाम की आर्यिका रहती थी, वह उनके पास आत्मा और तत्वों पर चर्चाएँ करती हुई त्रेसठ शलाका पुरुषों की कथा सुनने लगी। अहर्निश तत्त्वचिन्तन, स्वाध्याय और प्रभु भक्ति में अटल रहती थी, एक बार शुद्ध भोजन करती तथा त्रिकाल सामायिक, वंदना और प्रतिक्रमण करती थी।

इधर चम्पापुरी में प्रियदत्त सेठ और उनकी स्त्री एकाएक प्रिय पुत्री अनन्तमती के गायब हो जाने से अत्यन्त दुःखी थे। वे विचारने लगे कि कुमारी के अद्भुत रूप, सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उसे कोई विद्याधर चुराकर ले गया है। कुमारी का स्मरण कर माता-पिता विलाप करते हुए कहने लगे—हे चन्द्रमुखी! तेरी क्रीड़ा, तेरी हंसी, तेरा धूलभरा शरीर हम लोगों को कितना सुख देता था। तेरा प्रत्येक कार्य हमें सुख और शान्ति प्रदान करता था। तेरे बिना अब हमारा जीवन निरर्थक है।

भगवान् की पूजा किये बिना और मुनिराजों को आहार दान दिये बिना तू आहार ग्रहण नहीं करती थी। हम लोगों को छोड़कर तू कहाँ चली गई? भगवान्! क्या हमारे भाग्य में यही दुःख देखना (बदा) था? जिस प्रकार अग्नि का एक कण भी घास पर गिरकर घास को जला देता है, उसी प्रकार तेरा वह वियोगजन्य दुःख हमें जलाकर भस्म कर देगा। हमारे मनकी एक यही साध थी कि बृहद् पूजा करके बड़े भारी गाजे-बाजे के साथ तेरे विवाह का दृश्य अपनी आंखों से देखकर प्रसन्न होंगे, पर यह हमारी कामना अधूरी ही रह गयी। दुष्ट देव ने हमारी सारी आशाओं पर पानी फेर दिया। हाय! हमारी फूल सी सुकुमार पुत्री की क्या दशा हुई होगी? उसे कौन-कौन से दुःख दिये जा रहे होंगे? हे प्रभो! कुमारी की रक्षा करो।

पुनः कुमारी के गुणों का स्मरण कर कहने लगे—लता के समान तन्वंगी, कमलपत्र के समान चंचलनेत्री, भूमि चुम्बी केशों की धारक पुत्री तू कहाँ गई? इस प्रकार विलाप करते हुए दम्पत्ति जिनालय में वरदत्त मुनिराज के पास गये और उनके चरणों में नमोऽस्तु कर धर्मोपदेश देने की प्रार्थना की।

मुनिराज—इस संसार में सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख भोगते हैं। यह आत्मा स्वयं कर्त्ता और भोक्ता है। कर्म गति को टालने वाला कोई नहीं है। हाथियों को वश में करने वाले, सिंह को पकड़ने वाले, स्वर्गिक सुख का भोग करने वाले एवं छहों खण्डों पर शासन करने वाले चक्रवर्ती आदि भी जब इन कर्मों के फल से अछूते न रहे तो साधारण व्यक्तियों की तो बात ही क्या है? मनुष्य विद्याधर, देवगण, अप्सराएं, स्त्री, धन-ऐश्वर्य के धारी चक्रवर्ती आदि भी जब काल कवलित हुए हैं तो फिर संसार में मृत्यु से कौन बच सकता है?

मुनिराज के उपदेश को सुनकर उन दम्पत्ति को परम शान्ति मिली तथा कर्मों की गति का अनुभव कर पूर्ववत् रहने लगे। जब हृदय के भीतर कोने में दुःख छिप जाता है, तो वह निकालने पर भी दूर नहीं होता। अनन्तमती के हरण का दुःख सेठ के मन में इतना अधिक था कि लाख समझाने पर भी उसे शान्ति और धैर्य नहीं मिल रहा था। जिस प्रकार आंधी के आने पर मजबूती से बांधी गयी लताएं उखड़ जाती हैं, उसी प्रकार प्रियदत्त सेठ का मन दुःख के कारण अत्यन्त व्यथित था। रह-रहकर अनन्तमती की स्मृति उसके हृदय का आलोड़न कर रही थी। अतः उसने एक दिन निश्चय किया कि मैं कुछ दिन के लिये अपनी बहन वसुदेवी के यहाँ चला जाऊँ तो शायद वहाँ मुझे शान्ति मिलेगी।

प्रियदत्त सेठ अपने निश्चय के अुनसार वसुदेवी के यहाँ पहुँचा। भाई को दुःखी देखकर बहन को भी दुःख हुआ। इसने अपने मधुर वार्तालाप द्वारा भाई को शान्ति प्रदान की। स्नान आदि नित्यक्रियाओं से निवृत्त होकर प्रियदत्त सेठ जिनालय में दर्शन करने गया। मन्दिर के दरवाजे के समाने रत्नचूर्ण से निर्मित किये गये चौक और साथियों को देखकर आश्चर्यान्वित हो रोने लगा। उसे अनन्तमती का स्मरण हो आया, क्योंकि अनन्तमती ही ऐसा चौक पूर सकती थी। चौक के बीच में वृक्ष, कमल, हरितचन्दन, पुष्पमालाएं आदि वस्तुएं कलापूर्ण ढंग से बनाई गई थी। इस चौक को देखकर पुनः सोचने लगा कि मेरी कन्या अनन्तमती भी मेरे प्रासाद और जिनालय के सामने इसी प्रकार का कलापूर्ण चौक पूरती थी। वह दुःख से विह्वल होकर गर्म-गर्म श्वांस छोड़ने लगा। कलाविज्ञ ब्रह्मचारिणी अनन्तमती कहाँ मिलेगी? भाई को इस प्रकार विलखते देखकर कहने लगी—आप इस चौक को देखकर क्यों रोने लगे?

प्रियदत्त—मेरी पुत्री अनन्तमती ऐसा ही चौक पूरती थी, इसचौक को देखकर मुझे उसका स्मरण हो गया है।

वसुदेवी—भाई! यहाँ पर एक लड़की है, जो अत्यन्त शीलवान, आत्मज्ञ और विदुषी है। इसके ब्रह्मचर्य के प्रभाव से नगर के शासनदेव का आसन कम्पित हो गया और इसके शील की रक्षा उसने की। राजा, अमात्य और प्रधान सेनापति को उनकी कामुकता का समुचित दण्ड शासनदेव द्वारा मिला। यह लड़की अत्यन्त

तेजस्वी, सहिष्णु और कुशाग्र बुद्धि है। एक बार इसके सम्पर्क में जो पहुँच जाता है, इसका प्रशंसक बन जाता है। इस प्रकार कह कर भीतर ले गयी और संकेत कर उस कन्या को दिखला दिया।

प्रियदत्त उस अनुपम सुन्दरी कन्या को देखते ही अनन्तमती, अनन्तमती कहता हुआ दौड़ा और उसको गोद में उठा लिया। जैसे भिखारी को राज्य मिलने से, भूखे को भोजन मिलने से, प्यासे को जल मिलने से तृप्ति होती है, उसी प्रकार सेठ को पुत्री के मिलने से सुख हुआ। वह पुत्री से कहने लगा—हे कमलमुखी बेटी! तेरे न रहने से मैं महान् विपत्ति में पड़ा था, खाना-पीना मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। सूना घर मुझे काटने को दौड़ता था; मैं दुःख से विह्वल होकर ही यहाँ आया हूँ। प्यारी पुत्री अपना कुल वृत्तान्त मुझ से कहो। अनन्तमती ने कुण्डलमण्डित विद्याधर के द्वारा चुराये जाने से लेकर अयोध्या के राजा सिंहव्रत तक सारी कथा कह सुनाई। इस प्रकार पुत्री को प्राप्त कर सेठ प्रियदत्त अत्यन्त हर्षित हुआ।

एक दिन पुत्री को देखकर प्रियदत्त विचारने लगा कि अब अनन्तमती का विवाह कर देना चाहिये। वसुदेवी का पुत्र श्रुतकीर्ति सब प्रकार से योग्य है, सर्व गुण सम्पन्न है, यदि इसके साथ अनन्तमती का विवाह कर दिया जाये तो दोनों का जीवन सुखमय हो जायेगा। इस प्रकार निश्चय कर एक शुभ लग्न में उन दोनों का विवाह सम्बन्ध कर देने का उसने निश्चय किया और विवाह की सारी तैयारियाँ शुरू कर दीं तथा सुन्दर मण्डप बनवाया। रेशमी वस्त्र, चन्दन, तोरण, आम्र पल्लव, मोती की लड़ी, नव रत्न चूर्ण आदि वस्तुओं के द्वारा नगर को खूब सजाया तथा भगवान् के पूजन और अभिषेक के लिये दधि, दुग्ध, घृत, शर्करा, खूजर रस और सर्वोषधि आदि रसों से भरे कुम्भ एवं रेशमी वस्त्र, चीनपट्ट, सूती वस्त्र आदि सामान एकत्रित किये। अनन्तमती इन सारी तैयारियों को देखकर पिता से पूछने लगी—

पिताजी! यह सब सामान किसलिये एकत्रित किया जा रहा है? क्या आप पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा करेंगे या और कोई विधान?

पिता—समारोह पूर्वक मैं तुम्हारा विवाह करना चाहता हूँ। अनेक विद्वान उत्सव में एकत्रित होंगे, जो जय नन्द आदि शब्दों में आशीर्वाद देंगे। हे पुत्री! यह

विवाह अभूतपूर्व होगा, ऐसा विवाह अभी तक नहीं हुआ है। मैं इसमें एक करोड़ दीनार खर्च करूँगा, याचकों को स्वेच्छानुसार मुंह-मांगा दान दूँगा; अतिथियों का सत्कार करूँगा और समधी को खूब दहेज दूँगा। दूर-दूर देशों में निमन्त्रण भेजूँगा। एक महीने तक विवाह उत्सव मनाया जायेगा।

अनन्तमती हंसकर बोली—हे पिताजी! क्या आप त्रिलोकीनाथ भगवान् के सामने लिये गये ब्रह्मचर्य व्रत को भूल गये? जब आपने पूजाकर श्री वरदत्त मुनिराज से व्रत लिया था, उस समय मैंने भी ब्रह्मचर्य व्रत लिया था। क्या अब मैं उसलिये गये व्रत को छोड़ दूँगी। आप ही बतलाइये कि लिये हुये व्रत को छोड़ना क्या उचित है?

आश्चर्यान्वित हो प्रियदत्त सेठ कहने लगा—अरी बेटी! क्या पागलों की सी बातें करती है? तुम्हारी बातों से मुझे बहुत दुःख हो रहा है। मैंने तो विनोदवश तुम्हें ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया था। मेरा अभिप्राय केवल गुड़ियों का खेल रोकना था। तुमने वास्तविक ब्रह्मचर्य व्रत कहाँ लिया था। वयस्क होने तक के लिये ही तो व्रत दिया गया था, अतः अब विवाह करने में कुछ भी हानि नहीं है।

अनन्तमती—पिताजी! क्या भिक्षुक अपनी मिली हुई निधि को छोड़ सकता है? अनादि काल से संसार में भ्रमण करता हुआ जीव यदि संयम को प्राप्त करके भी छोड़ दे तो इससे बड़ा मूर्ख और कौन हो सकता है? अन्धा व्यक्ति जिस प्रकार पुण्ययोग से प्राप्त किये गये नेत्रों को फोड़ नहीं सकता है, उसी प्रकार सौभाग्य से प्राप्त हुए धर्म को कौन व्यक्ति छोड़ेगा?

सद्धर्म का मिलना ही कठिन है, मिलने पर उसे छोड़ने वाले मूर्खों को क्या सुख मिल सकता है? नहीं, कदापि नहीं। धर्म से ही सुख मिलता है, अधर्म दुःख का ही कारण है। मैंने इस छोटी सी आयु में ही संसार का अनुभव कर लिया है और अच्छी तरह देख लिया है कि सद्धर्म में ही सुख है। मोह के कारण आप धर्मात्मा होकर कैसी बातें कर रहे हैं? संयम का महत्व आप सरीखे विद्वान् धर्मात्मा न समझेंगे, तो फिर कौन समझेगा? जीवन की वास्तविकता विषय-सुख में नहीं है।

प्रियदत्त सेठ—पुत्री! गृहस्थधर्म का पालन करने से भी व्यक्ति अपना आत्म कल्याण कर सकता है। देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, दान इन षट्कर्मों का गृहस्थ पालन करे तो निश्चय ही वह अपना हित साधन कर लेगा। सुवर्ण, मोती, वैडूर्य, माणिक्य, चांदी के जिनबिम्ब बनवाओ, नवीन जिनालय तैयार करवाओ, स्वेच्छानुसार याचकों को दान दो, प्रतिष्ठाएं कराओ और गृहस्थी का सुख भोगो।

अनन्तमती—पिताजी, ब्रह्मचर्य व्रत को छोड़ ने से कितना पाप होगा? हमारे शास्त्रों में बताया गया है कि देव-गुरु शास्त्र की साक्षी से लिये गये व्रत को कभी नहीं छोड़ना चाहिये। जो व्यक्ति व्रत को छोड़ देता है उसे अत्यन्त पाप लगता है। अत: आप स्वयं विचार करें, मैं लिये गये व्रत को कैसे छोड़ दूँ?

प्रियदत्त—बेटी! व्रत छोड़ने से जो पाप होगा उसका मार्जन जिनालय बनवा कर प्रतिष्ठा करा देने से हो जायेगा। भगवान् का अभिषेक, पूजन, चार प्रकार का दान प्रतिदिन करती जाओ। घर में धन की कुछ भी कमी नहीं है। यदि तुम विवाह नहीं करती हो तो इस धन का उपयोग कौन करेगा? अत: विवाह करना तुम्हें आवश्यक है।

अनन्तमती—पिताजी! आपने जितने भी धर्म साधन के ढंग बताये हैं वे सभी पुण्योत्पादक हैं किन्तु इन वस्तुओं से धर्म नहीं हो सकता है। संयम धर्म है, इसके छोड़ने से पाप होगा। आप अभी मोह के कारण धर्म की तह तक नहीं पहुँचे हैं। ब्रह्मचर्य के समान इस जीवन में अन्य वस्तु सुखकर नहीं हो सकती है। मैं आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर देश, धर्म और समाज की सेवा करूँगी। मेरा जीवन अपने लिये नहीं होगा, समाज के लिये होगा।

अनन्तमती की इन बातों को सुनकर प्रियदत्त सेठ का बहनोई कहने लगा—अरी पुत्री! अब मूर्खता को छोड़ दे, लड़कपन में लिया गया व्रत किस काम का? मजाक में लिये गये व्रत भी कहीं पाले जाते हैं। उस समय तो तुम्हें कुछ भी बोध नहीं था ढोंग करना अच्छा नहीं है, विवाह करने में ही कल्याण है। क्या कभी लड़कियाँ अविवाहिता रहती हैं? विवाहित हो जाने पर भी देश, समाज और धर्म का उत्थान किया जा सकता है।

अनन्तमती—आपका कहना कुछ अंशों में ठीक हो सकता है। व्रत लेने में मजाक नहीं किया जाता? सांसारिक बातों में हंसी दिल्लगी की जाती है, व्रतों में नहीं। लड़कियां क्वांरी रहकर भी आत्म कल्याण के साथ समाज का उद्धार कर सकती हैं। राजुलदेवी को क्या आप भूल गये, उन्होंने अविवाहित रहकर ही समाज की भलाई की, अपना कल्याण किया। मैं संसार की असारता अच्छी तरह से समझ गई हूँ, कोई भी प्रलोभन मुझे व्रत से विचलित नहीं कर सकता है। मेरी प्रतिज्ञा सुमेरु के समान दृढ़ है। मैं संयमरूपी रत्न को यों ही नहीं खोना चाहती हूँ।

वसुदेवी—अनन्तमती! भूल करना जीवन में ठीक नहीं। हमारे कुल में आज तक ऐसा नहीं हुआ है। तुम्हारा विवाह न होने से कुल में कलंक लगेगा, लोग यह कहेंगे कि दरिद्रता के कारण विवाह नहीं हो सका; कुल की मर्यादा नष्ट हो जायेगी, सर्वत्र बदनामी होगी। क्या भले घरानों की लड़कियां ऐसी जिद्द करती हैं? तुम तेजस्वी, शीलवती, कुलदीपक और सर्व प्रकार से मान्य होकर ऐसी जिद्द क्यों करती हो?

अनन्तमती—संयम से बढ़कर कोई कीमती वस्तु नहीं।

इस प्रकार उसने सभी परिवार के व्यक्तियों को उपदेश देकर शान्त किया और सभी को संयम की महत्ता समझा दी। वास्तव में संयम के समान कोई भी कल्याणकारी वस्तु नहीं है, संयमी जीव इन्द्रियों का निग्रह कर अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करते हैं और इस अथाह संसार से पार हो जाते हैं। स्पर्शन इन्द्रिय की दासता के कारण व्यक्ति संसार में व्यभिचार करता है, रसना इन्द्रिय की दासता के कारण अभक्ष्य भक्षण करता है, घ्राण इन्द्रिय की दासता के कारण सुगन्धित इत्र, फुलेल आदि का उपभोग करता है। चक्षु इन्द्रिय की दासता के कारण नाटक देखता है और कर्ण इन्द्रिय की दासता के कारण सुन्दर कर्णप्रिय गाने सुनता है। इस प्रकार यह जीव इन्द्रियों की दासता के कारण संसार में अकरणीय कार्यों को करता है। इन्द्रियां अत्यन्त प्रबल हैं, व्यक्ति इनकी दासता के बन्धन में पड़कर अनेक कष्ट उठाता है। अत: इन्द्रियों की गुलामी का त्याग करना परमावश्यक है। संयम इन्द्रियों के लिये लगाम का काम करता है, उसे छोड़ना महान् मूर्खता है।

अनन्तमती ने वरदत्त मुनिराज की शिष्या कमलश्री आर्यिका से जिनदीक्षा ले ली और वह नि:कांक्षित हो व्रत का पालन करने लगी, उसके मनमें किसी भी प्रकार का प्रलोभन नहीं था। उसने कषाय और विकारों को उग्र तपस्या के द्वारा भस्म कर दिया। परमागम का अध्ययन करती हुई ध्यान, आत्मचिन्तन में लीन रहने लगी। उसने चारों अनुयोगों का अध्ययन किया, महापुरुषों के चरित्रों का मनन, चिन्तन और स्मरण किया।

ध्यान और तपस्या द्वारा कर्मों को क्षीण करती हुई, व्रतरूपी कवच को धारण कर भेद-विज्ञान रूपी शास्त्रों से कर्मों को परास्त करने लगी। उसने यह अनुभव कर लिया कि यह शरीर आत्मा नहीं है, मेरा इससे कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मा नित्य है, यह कर्ममल से अलिप्त है, उग्र तपस्या के कारण उसका शरीर क्षीण हो गया अत: उसने समाधिमरण धारण कर दिया। मरकर वह बारहवें स्वर्ग में देव हुई और 18 सागर की आयु प्राप्त की।

कर्मकालिमा को दूर करने वाले, मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति की कामना करने वाले, ऐहिक सुख सामग्री की कामना से रहित, भगवान् जिनेन्द्र के चरणों में भ्रमर, की तरह आसक्त होना तथा अपने को प्रत्येक वस्तु से भिन्न अनुभव करना सुख प्राप्ति का साधन है। राजा श्रेणिक गौतम गणधर से इस कथा को सुन अत्यन्त प्रसन्न हुए।

॥ तीसरी कथा समाप्त ॥

चौथी निर्विचिकित्सा अंग की कथा

निर्वाण लक्ष्मी की प्राप्ति में कारण निःकांक्षित अंग की कथा सुनकर राजा श्रेणिक अत्यन्त प्रसन्न हुआ और हाथ जोड़ गौतम स्वामी को नमस्कार कर कहने लगा—प्रभो! निर्विचिकित्सा अंग की कथा सुनने की मेरी इच्छा है, क्योंकि यह मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त कराने वाली है। इसके श्रवण से सभी प्रकार के पाप क्षीण हो जाते हैं, वासनाएं दूर भाग जाती हैं और आत्मा निर्मल बन जाती है।

गौतम गणधर—पद्म के समान सुन्दर गुम्फित कथा होती है, इसमें महल के दरवाजों के समान आमुख रहते हैं, जिससे भव्य जीवों को उल्लास होता है। यह सुमेरु पर्वत के समान गम्भीर, सिद्धपीठ के समान उत्कृष्ट, राजनीति के समान शासन करने वाली, धर्म के समान सुखदायक, दान के समान कल्याणकारी होती है। जो जीव धर्म कथाओं का श्रद्धान कर जीवन में प्रगति करता है, वह धन्य है। धर्मकथा से ज्ञान और चरित्र का संवर्द्धन होता है। तथा सम्यग्दर्शन में श्रद्धा दृढ़ होती है।

निर्विचिकित्सा अंग को जिन्होंने अच्छी तरह जानकर उत्साह पूर्वक धारण किया है, उनका वर्णन करना संभव नहीं, क्योंकि इस अंग का धारी व्यक्ति मोक्ष लक्ष्मी का वरण करने जा रहा है। सम्यग्दृष्टि जीव किसी से घृणा और द्वेष नहीं करता है। यह शरीर अत्यन्त अपवित्र है, इसमें मल स्रावित करने वाले नौ द्वार हैं। अतः स्वभावतः अशुचि शरीर को देखकर घृणा नहीं करनी चाहिये। आत्मज्ञ जीव वस्तुस्वरूप का अनुभव कर घृणा से मुक्त रहता है। इस निर्विचिकित्सा अंग के पालन करने वाले की कथा आगे कही जाती है।

भरतक्षेत्र में अनुपम सुन्दर रत्न और मणियों से परिपूर्ण कच्छ नाम का देश है। यह देश चारों ओर नन्दन वन के समान-वाटिकाओं से सुशोभित स्वर्गपुरी के समान शोभनीय है। इसी सुन्दर मनोज्ञ धन-धान्य से परिपूर्ण देश में रौरवपुर नाम का एक नगर था, इसमें महामण्डलीक उद्दायन नाम का राजा राज्य करता था। यह राजा शरणागत रक्षक, दुष्टों को दण्ड देने वाला, दीनों के लिये कल्पवृक्ष के

समान, उज्ज्वलकीर्ति का धारी, नाना उत्तम गुणों से युक्त, कामदेव के समान सुन्दर और कृपालु था। भगवान् जिनेन्द्र की पूजा और भक्ति करने में राजा भरत के समान तल्लीन रहने वाला था, उसकी दृढ़ता और विरक्ति देखकर भरत की आशंका उत्पन्न हो जाती थी। इसकी दान कीर्ति समस्त भरतक्षेत्र में व्याप्त थी। सम्यग्दर्शन में यह सनत्कुमार चक्रवर्ती के समान दृढ़ था, उसे देखकर ऐसा मालूम होता था कि इसका दृढ़ श्रद्धान, सगर और सनत्कुमार से भी बढ़कर है। प्रजा उससे बहुत सन्तुष्ट थी, राज्य में ईति-भीति कहीं भी नहीं थी।

चारों प्रकार के दान देने में यह राजा श्रेयान्स से भी बढ़कर था, उसके दान की यशोपताका सर्वत्र फहरा रही थी। सर्वदा लोग उसके गुणों का स्तवन करते थे। इस सर्वगुण सम्पन्न राजा की प्रभावती रानी थी, यह इन्द्राणी के समान रूप-सौन्दर्यशाली और गुणवती थी। ये दोनों पति-पत्नी जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति में सदा लीन रहते थे। प्रभावती का मुख कमल के समान सुन्दर था और उससे गन्ध भी कमल की आती थी, प्रभावती के सिवा इस राजा के और भी कई रानियां थीं। परन्तु पट्टमहिषी प्रभावती ही मानी जाती थी, राजा उद्दायन धर्म साधनापूर्वक अपनी प्रजा का पालन करता था।

एक दिन सौधर्म स्वर्ग की सुधर्मा नामक सभा में, जिसमें मनोहर रूपधारिणी, चंचल नेत्रवाली चतुर, हाथी की सूंड के समान लम्बी-लम्बी भुजाओं वाली अप्सराएं चमर ढुला रही थीं, गीत—नृत्य, वादित्र आदि नाना प्रकार के मनोरंजन करने वाले साधन प्रस्तुत थे, हाथ जोड़कर देव कहने लगे—प्रभो! आप सर्वजीव हितकारी जैनागम के मर्मज्ञ हैं, अतः सद्धर्म का रहस्य आपसे हम लोग जानना चाहते हैं। क्योंकि सद्धर्म ही सब जीवों का कल्याण समानरूप से कर सकता है, पापी से पापी भी इस धर्म के धारण करने से अपना आत्म-साधन कर लेते हैं। यही स्वर्ग-मोक्ष को देने वाला है, नरक और तिर्यंच गतियों से छुटकारा इसी धर्म के धारण करने से हो सकता है।

सौधर्मेन्द्र—वास्तव में सद्धर्म ऐसा ही होता है। यह धर्म किसी जाति विशेष के लिये नहीं, किन्तु मनुष्य मात्र के लिये है। जो व्यक्ति शुद्ध आचरण द्वारा इस

धर्म को धारण करता है, उसकी कीर्ति संसार में व्याप्त हो जाती है। धर्म धारण करने के लिये किसी भी प्रकार के बन्धन की आवश्यकता नहीं है। उत्तम कुल में उत्पन्न होकर व्यक्ति चरित्रहीन, व्यसनी और दुराचारी हो सकता है, अतः उत्तम कुल में जन्म लेने ही से धर्म का पालन नहीं हो सकता। पृथ्वी में नाम, रूप और आकृति की अपेक्षा से सभी मनुष्य समान हैं, धर्म ही एक ऐसा पदार्थ है जिसके धारण करने से व्यक्ति वास्तव में मनुष्य कहलाने का अधिकारी हो सकता है। दयामयी अहिंसक धर्म ही सद्धर्म हो सकता है। इसमें व्यक्ति के चारित्र, आत्मिक-विकास आदि पर पूरा जोर दिया गया है। भक्ष्याभक्ष्य का विचार, अपने स्वरूप का मनन, रत्नत्रय की आराधना सद्धर्म में परिगणित है। जो मनुष्य इस प्रकार के धर्म को ग्रहण कर लेता वह अवश्य ही अपना हित साधन कर लेता है। सज्जन और कोमल प्रकृति वालों को यह धर्म रुचिकर होता है, किन्तु दुष्ट प्रकृति वालों को यह बुरा लगता है।

जिस प्रकार चोर को चांदनी रात अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार सप्त व्यसनों के सेवन करने वाले को धर्म अच्छा नहीं लगता है। समस्त धर्म की जड़ सम्यग्दर्शन में है, जो अष्टांग सहित इसका पालन करता है, वह नाना प्रकार की गतियों के भ्रमण से छुटकारा पा लेता है। जिस प्रकार सुभग व्यक्ति दर्पण में अपना मुंह देखते हैं तो उन्हें प्रसन्नता होती है, किन्तु नकटा व्यक्ति जब दर्पण में अपना मुंह देखता है तो उसे क्रोध आता है, इसी प्रकार श्रद्धालु पुण्यात्मा को सद्धर्म अच्छा लगता है, परन्तु पापी व्यक्तियों को इससे घृणा और द्वेष ही होता है।

जैसे बुद्धिमान पुरुष मिट्टी मिश्रित अशुद्ध स्वर्ण में से प्रयत्न द्वारा शुद्ध स्वर्ण निकाल लेते हैं, वैसे ही श्रद्धालु व्यक्ति धीरे-धीरे समीचीन धर्म को ग्रहण कर अपना कल्याण कर लेते हैं, परन्तु मिथ्यादृष्टि सोने और मिट्टी के भेद को न समझकर भेद-विज्ञान के अभाव में कुगतियों में भ्रमण करते हैं। कुधर्म के उपदेशक बहुत मिल जाते हैं, पर सद्धर्म के उपदेशक इने-गिने व्यक्ति ही मिल सकते हैं। क्योंकि संसार के जीवों की प्रवृत्ति स्वभावतः विषयों में देखी जाती है, जो व्यक्ति मनमोहक व्यसनों की ओर आकृष्ट नहीं होते हैं वे ही वास्तव में धर्म के परिपालक हैं। साधारण व्यक्तियों को दयामय धर्म के धारण करने में कठिनाई का सामना

करना पड़ता है, परन्तु पापमय धर्म उनके लिये बहुत ही आसान होता है। क्योंकि उसके लिये कुछ भी त्याग नहीं करना पड़ता है। और न किसी भी प्रकार का कष्ट सहना पड़ता है। भौतिक जीवन, जिसका उद्देश्य केवल खाना-पीना और आनन्द से रहना है, मिथ्यात्व या कुधर्म का द्योतक है, सद्धर्म विवेक सिखलाता है और प्रत्येक कार्य में क्यों और कैसे? प्रश्न उठाकर अपना अमिट प्रभाव अंकित करता है। मूल्यवान् वस्तु के ग्राहक थोड़े व्यक्ति होते हैं, पर सस्ती चीजों के खरीददार अधिक से अधिक व्यक्ति मिल जाते हैं, इसी प्रकार साधना प्रधान सद्धर्म के कारण करने वाले कम परन्तु मिथ्या आडम्बर युक्त धर्म को ग्रहण करने वालों की कभी कमी नहीं रही है।

व्यवहार धर्म में दान, पूजा, स्वाध्याय, संयम आदि प्रधान हैं। दान देने से स्वपर कष्ट दूर हो जाता है; समाज और धर्म के अर्थ-साध्य कार्य सामूहिक दान के द्वारा ही सम्पन्न किये जाते हैं। जितने धन का व्यक्ति दान देता है, उतने धन से उसका मोह दूर हो जाता है, जिससे राग द्वेष की माया घटने से धर्म-साधन होता है। बात यह है कि धर्म आत्मा में है, संसार के बाह्य पदार्थों में नहीं। दान में धर्म नहीं बसता है, बल्कि त्याग वृत्ति में धर्म है। कोई धनिक होकर अधिक धन दान में लगा रहा है, पर उसकी एक मात्र इच्छा कीर्ति-उपार्जन की है या और किसी प्रकार का स्वार्थ सिद्ध करने की है तो उसे कभी भी यथार्थ धर्मात्मा नहीं कहा जा सकता। आहार दान, ज्ञान दान, औषध दान और अभय दान इन चारों प्रकार के दान देने में धर्म अवश्य है, पर स्वार्थ के रहने पर पर धर्म नहीं रहता। स्वार्थ व्यक्ति को नीच बना देता है। भक्ति पूर्वक आहार दान देने से लक्ष्मी की वृद्धि होती है, मन्त्र सिद्ध होता है, सन्तान प्राप्त होती है, रोग शोक दूर हो जाते हैं, तथा बड़े से बड़े कार्य सिद्ध हो जाते हैं। इस दान के प्रभाव से मनुष्य स्वर्गादि सुखों को तो प्राप्त करता ही है; किन्तु परम्परा से निर्वाण की भी प्राप्ति होती है। निदान बांधकर दान देने से दान निरर्थक हो जाता है।

ज्ञान दान के समान कोई उपकारक नहीं है। ज्ञान या विवेक ही व्यक्ति को संसार के हेयोपादेय पदार्थों में प्रवृत्ति कराता है। अज्ञानी जीव वस्तु के स्वरूप से वंचित रहने के कारण सम्यक् प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। अज्ञान की निवृत्ति हो

जाने से व्यक्ति अपने कल्याण के मार्ग को प्राप्त कर लेता है, उसे हित अहित का ज्ञान हो जाता है। अतएव ज्ञान दान श्रेष्ठ दान है, इसके दाता को सभी प्रकार की सुख सम्पत्ति की प्राप्ति होती है तथा ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने के कारण आगे चलकर केवल ज्ञान की प्राप्ति भी हो जाती है। यदि कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में दो चार व्यक्तियों को भी ज्ञानी बना दे, तो वह बहुत बड़ा काम कर सकता है, आत्म श्रद्धा हो जाने पर आत्म ज्ञान होना तथा उस आत्मा को प्राप्त करने के लिये यत्न करना ही जीवन का वास्तविक लक्ष्य है। ज्ञान दान का दूसरा नाम शास्त्र दान है, शास्त्र लिखवाकर या छपवाकर बांटना तथा शात्रोपदेश देकर मोह अज्ञान और विकारों को दूर करना भी शास्त्रदान है। इस दान का फल शास्त्रकारों ने श्रुतज्ञानी और केवलज्ञानी होना बताया है। एक शास्त्र का दान करने वाले भी इस संसार से पार हो गये हैं।

औषध दान में रोगी व्यक्तियों को औषधि का वितरण करना चाहिये। जब किसी का रोग दूर हो जाता है, तो वह परिचर्या या औषध करने वाले का बड़ा भारी उपकार मानता है, वह अपना नया जीवन प्राप्त कर अत्यन्त प्रसन्न होता है, अतः इस दान के द्वारा भी अद्वितीय चमत्कारी फलों की प्राप्ति देखी जाती है। त्यागी, साधु, महापुरुषों की परिचर्या करना, रोगी होने पर उनकी सभी प्रकार से संभाल रखना, शुद्ध औषध को देना आदि सभी औषध दान में गर्भित हैं। इस दान के करने वाले निरोगी रहते हैं। जिस व्यक्ति को सदा स्वस्थ रहना हो और कञ्चन जैसी निर्मल काया की इच्छा हो तो उसे औषध दान देना चाहिये। निदान बांधकर दान देने से समस्त फल नहीं मिलता है अतः निस्वार्थ भाव से स्वयं औषधि बनाकर दान देना चाहिये।

अभयदान का अर्थ है, दीन:असमर्थ जीवों को प्राण रक्षा करना तथा उनकी सब प्रकार से हिफाजत (सुरक्षा) करना, प्रत्येक व्यक्ति को अपने प्राण प्यारे होते हैं। जो उनकी रक्षा करता है, वास्तव में वह उनका सबसे प्रियपात्र होता है। अभयदान करने वालों को सद्विवेक पूर्वक दान करना चाहिये, प्राण रक्षा के समान संसार में दूसरा सुखद कार्य नहीं है। इस प्रकार जो व्यक्ति इन चारों प्रकार के दान धर्मों का पालन करता है, वह धर्मात्मा है। गृहस्थ अपनी शक्ति के अनुसार त्यागी,

साधु, सन्यासियों को दान देता है, प्रभु-भक्ति कर भी धर्म संचय करता है। भगवान् की भक्ति से आत्मा और परमात्मा का भेद स्पष्ट हो जाता है। यही जीवात्मा किस प्रकार परमात्मा बन जाता है, यह भक्ति के चमत्कार द्वारा ही अवगत किया जा सकता है। जिस प्रकार पारस मणि के स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है, उसी प्रकार भक्ति के संयोग से जीवात्मा भी परमात्मा बन जाता है। यद्यपि भक्ति श्रद्धा के अन्तर्गत है, बिना श्रद्धा के भक्ति हो नहीं सकती है, परन्तु भक्त जीव अपने हृदय को प्रभु चरण में अर्पण कर समस्त आत्मिक शक्तियों का विकास कर लेता है। नित्य प्रभु की भक्ति से अपनी आत्मा के गुणों का स्मरण होता है, जिससे निर्वाण प्राप्त करने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती। भगवान् की पूजा दरिद्रता, रोग, शोक, मोह, मान आदि को दूर कर देती है। अत: सद्धर्म के भीतर प्रभु-भक्ति की गणना की गई है।

शास्त्र स्वाध्याय भी सद्धर्म में शामिल है। क्योंकि इसके द्वारा ज्ञान की वृद्धि होती है, हिताहित की प्रवृत्ति और निवृत्ति भी इसी के ऊपर आश्रित है। जितने समय तक व्यक्ति स्वाध्याय करता है, उतने काल तक उपयोग के स्थिर रहने से आत्मिक शक्ति का विकास होता है। स्वाध्याय की गणना तपों में भी की गई है; क्योंकि यह कर्म निर्जरा का कारण भी है। इस प्रकार सद्धर्म का किंचित् स्वरूप सौधर्मेन्द्र ने कहा।

एक देव—प्रभो! धर्म के आराधक भव्य को कैसा होना चाहिये?

सौधर्मेन्द्र—घोड़े के मुख में लगाम लग जाने पर वह घास मुख में ही रख लेता है, पेट में नहीं जाने देता; उसी प्रकार धर्म को ऊपर से ग्रहण करते हैं, वे उसका भीतर रसास्वादन नहीं करते, वे सम्यक् आराधक नहीं हैं। पुण्य की वृद्धि हो और पाप दूर हो जाय, इस धारणा को लेकर धर्म का श्रवण करना व्यर्थ है। भय या आतंक से धर्म का साधन नहीं हो सकता है। आराधक को श्रद्धालु, विनीत और जिज्ञासु होना चाहिये। विवेकी, श्रुतज्ञ, गुणी, जागरूक होना भी साधक के लिये आवश्यक है। भ्रमर के समान रसज्ञ, सोने के समान शुद्ध, पर्वत के समान स्थिर, स्फटिक के समान निर्मल, सुकवि के समान कुमार्ग रहित, जौहरी के समान परीक्षक, महाक्षत्रिय के समान विचार-परायण, देव के समान समबुद्धि, अर्जुन के

समान धर्म प्रिय, संयमी के समान दयालु, सुकवि के समान यति प्रिय, सागर के समान अपार हृदय (अमर्यादित) गम्भीर, एवं सुमेरु की तरह धर्म में अटल होने वाला ही भव्य आराधक है। भव्य श्रावक धर्म के स्वरूप को अवगत कर धारण करे, अन्ध विश्वासी बनना उचित नहीं है। परीक्षा प्रधानी बनना तथा खरे-खोटे की परख कर धर्म को स्वीकार करना परीक्षा प्रधानी श्रावक का परम कर्त्तव्य है।

सांसारिक विभूतियां पुण्योदय से मिलती हैं, इन्हें प्राप्त कर अभिमान न करना तथा अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन सदा करते रहना चाहिये। क्योंकि वैभव धर्म करने से प्राप्त हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। हाँ, पुण्योदय से ऐहिक वैभव प्राप्त होता है। इसके साथ धर्म का विशेष सम्बन्ध नहीं है। बिना डंडी के जैसे छाता नहीं धारण किया जा सकता है, कोई भी राज्य के बिना राजा नहीं बन सकता, घृत के बिना स्वादिष्ट भोजन नहीं बन सकता, मार्ग बिना गमन नहीं हो सकता, योग्यता और चतुराई के बिना कोई मंत्री नहीं बन सकता, बिना बर्तन के भोजन नहीं बनाया जा सकता उसी प्रकार पुण्योदय के बिना सम्पत्ति प्राप्त नहीं हो सकती। सांसारिक वैभव पुण्य के दास हैं, यह पुण्यार्जन दान, पूजा, स्तवन, अभिषेक, परोपकार, स्वाध्याय, संयम, गुरुभक्ति आदि के करने से होता है। मानव समाज की भलाई करने वाले कार्य पुण्य कार्य माने गये हैं।

कर्मों का उदय प्रबल होता है। रामचन्द्र और पाण्डवों को भी कर्मों ने नहीं छोड़ा, स्त्री-माता, घर कुटुम्ब आदि से पृथक् होना पड़ा। क्या ये महापुरुष मन्त्र-तन्त्र नहीं जानते थे? अपने कर्मों को मन्त्र-तन्त्र के प्रभाव से क्यों नहीं नष्ट कर सके?

सगर, भरत और अद्भुसेन जैसे उदार वीर भी समस्त पृथ्वी के अधिपति थे, चक्रवर्ती हुए। पुण्यानुबन्धी पुण्य से क्या विशिष्ट पुण्य का बन्ध नहीं हो सकता है? संसार के वैभवों के लिये पुण्य ही प्रधान है।

जिसकी आयु पूर्ण हो जाती है, उसको कोई नहीं बचा सकता है। जीव को शाश्वत सुख पुण्य से नहीं मिल सकता है, क्योंकि पुण्योदय से इन्द्रिय सुख ही उपलब्ध होता है, अतीन्द्रिय सुख नहीं। अतीन्द्रिय सुख ही शाश्वत हो सकता है,

यही अविनाशीक है। पुण्योदय से क्षणिक सुख-दुःख प्राप्त होते हैं, अतः भव्य श्रावक को धर्म और पुण्य का रहस्य समझकर रत्नत्रय रूप धर्म को धारण करना चाहिये। यदि मुनि बनकर आत्मधर्म को धारण करने की शक्ति न हो या कठिनाई हो तो पुण्य कार्यों को सम्पन्न करना चाहिये। पाप कार्य, सप्तव्यसन सेवन, अभक्ष्य भक्षण आदि का त्याग तो जीवन में अवश्य होना चाहिये। इनके त्याग किये बिना मानव का जीवन पशुवत् हो जाता है।

धर्म साधन के लिये निदान नहीं बांधना चाहिये। माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीनों शल्य माने जाते हैं, जीव व्रती शल्य के दूर करने पर ही हो सकता है। शल्य हृदय में कांटे के समान चुभती रहती है। अतः धर्म का रहस्य जानने के लिये आगम का अध्ययन, मनन और चिन्तन करना चाहिये। क्योंकि परमागम के बिना उत्तम गति का उपाय नहीं जाना जा सकता है। जिनवाणी ही निर्वाण लक्ष्मी के समक्ष उपस्थित कर देती है। मोहरूपी कुट्टिनी इसके सामने नहीं ठहर सकती है।

देव—हे स्वामिन्! निर्विचिकित्सा अंग के धारक इस लोक में कितने जीव हैं? क्या सम्यग्दर्शन का निर्दोष रूप से पालन करने वाले इस समय विद्यमान हैं, और उनकी संख्या कितनी है?

सौधर्मेन्द्र—इस भरतक्षेत्र के रौरवपुर नाम के नगर में निर्मल, उदार गुणों का धारी, भगवान् के चरणों में भ्रमर की तरह लुब्ध, पृथ्वी में भव्यों द्वारा स्तुत्य, सदाचारी उद्दायन नाम का राजा निर्दोष सम्यग्दृष्टि है तथा निर्विचिकित्सा अंग का पूर्णतया पालन करने वाला है। इस प्रकार सौधर्म इन्द्र की सभा में उद्दायन की प्रशंसा की गई।

वासवदेव आश्चर्यान्वित हो कहने लगा कि भरतक्षेत्र में क्या वही एक विशेष सम्यग्दृष्टि है? इतनी जनसंख्या के प्रदेश में एक ही व्यक्ति ऐसा क्यों है? अन्य दो-चार व्यक्ति भी क्या वैसे सम्यग्दृष्टि नहीं होंगे? मैं जाकर अवश्य परीक्षा करूँगा और सम्यग्दृष्टियों की संख्या का यथार्थ पता लगाऊँगा।

वासवदेव ने भरतक्षेत्र में जाकर मुनिरूप धारण किया। शरीर को कृश, नासिक और कान को बेढंगा, आँखों से दुर्गन्धित पानी बहाते हुए, समस्त शरीर से खून

पीप निकालते हुए, गति निकृष्ट, क्षीण काय, हड्डियों का ढांचा आंतें निकाले हुए, अपना वेष बनाया। इस प्रकार के मुनि को देखते ही दूर से घृणा उत्पन्न होती थी। उसके वीभत्स शरीर से निकलने वाली दुर्गन्ध इतनी कड़ी थी कि कोई भी उसके सामने नहीं पड़ता था।

वह जिस गांव में गया, उसी में महान् दुर्गन्धि छोड़ता हुआ गया। उसकी दुर्गन्धि के कारण कहीं पर उसे आहार नहीं मिला। नामधारी सभी श्रावक उसे देखते ही छिप जाते थे। क्रमशः चलकर वह रौरवपुर नगर में आया; सभी नगर के व्यक्ति उस कोढ़ी के घृणित शरीर को देखकर घबड़ा गये, दुर्गन्धि के कारण कोई भी उसके सामने नहीं आया। कुछ उसकी निन्दा करने लगे, कुछ तिरस्कार करने लगे और कुछ उसको गालियां देने लगे। कुछ कहने लगे देखो इतना भयंकर कुष्ट रोग होने पर भी इसे खाने की इच्छा है। मौत के दिन निकट हैं, फिर भी भोजन की लालसा दूर नहीं हुई है। थोड़ा आगे चलने पर एक जातिमूढ़ बोला—शरीर सड़ गया है, हाथ पैर बेकाम हो गये हैं, इसका मर जाना ही अच्छा है। न मालूम यह बदकिस्मत क्यों जीवित रहना चाहता है? इस प्रकार की आलोचना सुनता हुआ वह आगे बढ़ा। वहाँ एक श्रावक मिला, वह कहने लगा—इतना दुःख क्यों सहन कर रहा है? अब आहार-पानी छोड़ अथवा कुंए में कूदकर प्राण दे देने चाहिये। इस प्रकार के जीवन से क्या लाभ? आशा बड़ी बुरी वस्तु है, मनुष्य आशा को लेकर ही जीवित रहता है। तरह-तरह की आलोचना को सुनता हुआ वह मुनि आगे चला।

आगे जाने पर एक श्रावक सोचने लगा कि यह मुनिराज क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि 22 परीषहों को सहन करते हैं, अशुभोदय से इन्हें कष्ट हो गया है। इतने महान् कष्ट के आने पर भी इन्होंने अपने चारित्र को नहीं छोड़ा। इस प्रकार दुर्द्धर चारित्र धारी मुनिराज को धन्य है। आगे जाने पर एक श्रावक करुणा बुद्धि से कहने लगा देखो किसी को एक छोटा-सा घाव हो जाने पर कितना कष्ट होता है, यह मुनिराज इतनी महान् वेदना को सहन करते हुए भी अपनी चर्या के लिये आ गये हैं। इनके समान कौन धन्यवाद का पात्र होगा?

अन्य श्रावक कहने लगा—इस प्रकार महान् कष्टों को सहन करते हुए भी इन्होंने अपनी वीर भिक्षावृत्ति को नहीं छोड़ा है। इस धैर्यशाली को अनेक बार नमस्कार है। मुनिवेष धारी देव उपर्युक्त श्रावकों को अपने-अपने विचारानुसार नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आयु का बन्ध करने वाला अनुमान करता हुआ आगे बढ़ा।

आगे जाने पर एक कुसंगति में पड़ा हुआ जैन श्रावक कहने लगा—आज तक हमने इस प्रकार के मुनि को नहीं देखा, यह कोढ़ी कहाँ से आ गया? जैनवृत्ति कितनी कठिन है कि इस दुरवस्था में भी यह साधु अपने व्रतों के पालन के लिये भिक्षार्थ यहाँ आया है। आगे जाने पर जड़मति श्रावक मिला; वह कहने लगा—कि दुर्गन्ध के मारे नाक फटी जा रही है, यह यहाँ से जल्दी चला जाय तो अच्छा है। कुछ दूर चलने पर शून्य हृदय श्रावक मिला और कहने लगा—सबसे कठिन कुष्ठ व्याधि है, इतनी वेदना दूसरे रोग में नहीं होती है, अतः इसे किसी समुद्र या नदी में गिरा देना चाहिये। आगे जाने पर एक वृद्ध मिथ्यादृष्टि कहने लगा—आज तक मैंने अनेक मुनियों को सुन्दर सुस्वादु भोजन दिया है, जिससे मेरे हाथ की अंगुलियां घिस गई हैं, पर इस प्रकार के मुनि को आहार देना चाहिये या नहीं? शास्त्रों में इस सम्बन्ध में क्या लिखा है? इसका पता नहीं। अनन्तकाल तक दुःख प्राप्त करने वालों का मार्ग यही है। कुछ दूर चलने पर एक श्रावक पान खाता हुआ मिला और कहने लगा—कि आगे जाओ, यहाँ तुम्हारी दाल नहीं गलेगी। अन्य नवीन श्रावक कहने लगा—यह मुनि है या नहीं, इसे आहार के लिये पड़गाहा जाय या नहीं? इस प्रकार की बात चीत होने लगी। मुनि आगे बढ़ा—

एक अन्य श्रावक मुनि को देखकर कहने लगा—भाई तुम्हीं पड़गाहने जाओ, मैंने अभी स्नान किया है। दूसरा कहने लगा कि तुम्हीं जाओ, मैं इस कार्य को करलूँ। इस प्रकार वहाँ से भी मुनिराज आगे चले गये। कुछ दूर जाने पर नवीन श्रावक वार्तालाप करने लगे कि हमने समझा था कि आगे के लोग मुनिराज को पड़गाह लेंगे, अन्यथा हम ही पड़गाह लेते। इस प्रकार सब बहानाबाजी करने लगे। इस प्रकार किसी भी श्रावक की मुनि को आहार देने की हिम्मत नहीं हुई, बदबू और खून-पीप टपकने के कारण कोई भी उनके पास जाने को तैयार नहीं हुआ।

श्राविकाएं भी ऊपर-ऊपर ही आहार की चर्चाएं करने लगीं परन्तु आन्तरिक इच्छा किसी की भी आहार देने की नहीं हुई; क्योंकि मुनि का शरीर इतना वीभत्स था जिससे कोई भी आहार देने के लिये तैयार न हो सका। यद्यपि अनेक श्रावकों ने मुनि की चर्या की प्रशंसा की किन्तु वास्तविक निर्विचिकित्सा अंग का पालन करने को कोई भी तैयार नहीं हुआ। मुनिवेष धारी वासवदेव जब सारी नगरी में घूम लिया और कोई भी वास्तविक श्रावक न मिला तो वह सोचने लगा—जैसे सभी वृक्ष फलों के बिना समान दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु फल आने पर सभी फलों का गुण अलग-अलग प्रकट हो जाता है। आम और लीची के वृक्ष समान दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु फल आने पर उनका भेद प्रकट हुए बिना नहीं रहता। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की क्रियाएं भी समान रूप से होती हैं, परन्तु अवसर आने पर दोनों का भेद प्रकट हुए बिना नहीं रह सकता। कर्मों के क्षय के बिना क्षायिक सम्यग्दृष्टि कोई नहीं हो सकता। अतएव वासवदेव ने ऊहापोह के अनन्तर निर्णय किया कि अब राजा उद्दायन की परीक्षा के लिये चलना चाहिये।

राजा उद्दायन उस समय राज सभा में सिंहासन पर बैठा हुआ था। जिस प्रकार सूर्य उदयाचल पर शोभित होता है उसी प्रकार राजा सिंहासन पर शोभित हो रहा था अथवा यों समझना चाहिये कि जिस प्रकार नक्षत्रों के समुदाय में चन्द्रमा शोभा पाता है, उसी प्रकार राजा उद्दायन अपने अमात्य, विद्वान् एवं अन्य लोगों के मध्य में बैठा हुआ शोभा प्राप्त कर रहा था। रानियां मोतियों का हार पहने हुए सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित अद्भुत शोभा प्राप्त कर रही थीं। राजा के ऊपर चमर ढोरने वाली नारियां अप्सराओं के समान सुन्दरी थीं, इनके अंग-अंग से लावण्य फूटा पड़ता था। सभा की नर्तकियां नाना प्रकार के आभूषण पहने हुए अपनी ओर दर्शकों का चित्त आकृष्ट करती थीं। वे नृत्य विद्या में अत्यन्त प्रवीण और हाव-भाव में चतुरा थीं। राजा की सभा में ये नर्तकियां सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र की देवांगनाओं से भी बढ़कर थीं। राजा की सभा इन्द्र की सभा के तुल्य थी, कवि कविता की रचना कर उपस्थित मनुष्यों में वीर-श्रृंगार और शान्त रस की धारा प्रवाहित करने में संलग्न थे। राजा के पास अनेक देशों के छोटे-छोटे राजा उपहार भेंट कर रहे थे। राजा का विदेशी विभाग बहुत ही दृढ़ था, संकेत पर ही सारी व्यवस्था विदेशी दूतों द्वारा, की जा रही थी।

राजा उद्दायन ने मुक्ति दूत के समान उन मुनिराज को देखा तो तुरन्त सिंहासन से खड़ा हो गया और शुद्ध वस्त्र पहन कर मुनिराज को पड़गाहने के लिये आया। वह अपार भक्ति सहित मुनिराज के चरणों में गिर गया तथा नवधा भक्ति पूर्वक पड़गाह कर उन्हें उच्चासन पर बैठाया। मुनि भेषधारी वासवदेव ने इतनी दुर्गन्ध छोड़ी, जिससे वहाँ नाक बन्दकर भी रहना संभव नहीं था। दुर्गन्ध सहन न होने से बहुत से लोग भाग गये, पर कुछ लोग राजा के भय से बड़ी कठिनाई के साथ नाक बन्द कर नीचे को मुख किये खड़े रह गये। रानियाँ भी दुर्गन्ध से घबड़ा कर भाग गयीं, किन्तु पट्टमहिषी प्रभावती ने प्रसन्नता पूर्वक मुनिराज के आहार की तैयारी की। वह कहने लगी कि श्रेष्ठ रत्न मैलरूपी शरीर में पड़ गया है, इस मैल को दूर करने के लिये ऐसी कठिन तपस्या की आवश्यकता है। प्रभावती रानी सहित राजा उद्दायन ने नवधा भक्ति सहित मुनि को आहार दिया। मुनि ने भी कण्ठ पर्यन्त खूब भोजन कर लिया, जिससे उनका शरीर काँपने लगा, आँखों की पुतलियां निकल आयीं, श्वास तेजी से चलने लगी तथा दुर्गन्ध भी शरीर से निकल रही थी।

मुनि ने राजा और रानी के ऊपर काँपते हुए वमन कर दिया तथा यह वमन सिर से लेकर पांव तक वज्रलेप हो गया, किन्तु राजा-रानी को इस बात से तनिक भी कष्ट नहीं हुआ और न अपने मन में उन्होंने घृणा ही की; बल्कि मुनिराज के वमन से राजा के मन में यह चिन्ता अवश्य हो गयी कि हमारा भोजन न मालूम कैसा था? जिससे हमारे कारण मुनिराज को अपूर्व कष्ट हो रहा है। हमारे न मालूम किस अशुभ कर्म का उदय आ गया है,अन्यथा हमारे निमित्त से मुनिराज को इतनी तकलीफ क्यों होती?

पुनः राजा विचारने लगा—अरे मैं कैसा पापी हूँ? मैंने मुनिराज को उनकी प्रकृति के अनुकूल आहार नहीं दिया, इसी से उनको वमन हो गया है। इस प्रकार राजा उद्दायन आत्मालोचना करता हुआ गर्म जल से उनके शरीर को धोने लगा और स्वच्छ कपड़े से शरीर को पोंछ दिया तथा बाहर लाकर एक पट्टे पर बैठा कर मुनिराज की स्तुति करने लगा। पश्चात् रानी प्रभावती भी मुनिराज की सेवा करती हुई बोली—इस शरीर का विचार किया जाये तो निश्चय ही ज्ञात हो जायेगा कि इसमें तिल मात्र भी शुचिता नहीं है। अतः जहाँ तक हो सके इस शरीर से आत्म

कल्याण का कार्य लेना चाहिये। यह तो हमारा गुलाम है, यदि इसके ऊपर यथार्थ नियन्त्रण न किया जायेगा तो यह उच्छृंखल हो जायेगा। जिस प्रकार सांप के बिल में हाथ डालने से सांप हाथ काटता है, उसी प्रकार शरीर कें स्पर्श से सभी पदार्थ अपवित्र हो जाते हैं। यह बिजली की चमक के समान क्षणिक, ग्रह के समान पीड़ाकारक, कृष्ण पक्ष के समान भयोत्पादक, शिशु के समान चंचल, तृणाग्नि के समान अस्थिर एवं सब प्रकार से दुर्गुणों की खान है। जो इस शरीर को प्राप्त कर रत्नत्रय की आराधना करता है, वही सफल माना जाता है।

वासवदेव प्रसन्न होकर सोचने लगा कि सौधर्म सभा में जो इनके गुणों का वर्णन किया गया था, वह सच है। वास्तव में इनके समान गुणी और सम्यग्दृष्टि जगत् में शायद ही कोई होगा। इस भरतक्षेत्र में मैंने भ्रमण कर देख लिया कि राजा उद्दायन और रानी प्रभावती दृढ़ सम्यग्दृष्टि हैं। निर्विचिकित्सा अंग का पालन करने में ये अद्वितीय हैं। इनके सम्यक्त्व और निर्विचिकित्सा अंग का वर्णन धरणेन्द्र भी नहीं कर सकता है। अतएव अब मुझे अपने वास्तविक रूप को प्रकट करना चाहिये। ऐसा निश्चय कर उसने अपना दिव्य शरीर प्रकट किया।

आश्चर्यान्वित हो राजा उद्दायन ने पूछा—आप कौन हैं?

वासवदेव—सौधर्म स्वर्ग में एक दिन यह चर्चा उपस्थित हुई थी कि निर्विचिकित्सा अंग में कौन प्रसिद्ध है? इन्द्र ने उसका उत्तर दिया था कि रौरवपुर का राजा उद्दायन और उसकी रानी प्रभावती इस अंग के पूर्णतः धारी हैं। सौधर्मेन्द्र की बात सुनकर सभी देवों ने आपकी स्तुति की, हाथ जोड़कर नमस्कार किया। मैं परीक्षा करने के लिये चला आया। मैंने आपको अत्यन्त कष्ट दिया, इसके लिये आप मुझे क्षमा करें। मेरा नाम वासवदेव है। सभा में आपका जैसा वर्णन किया गया था, आप उससे बढ़कर गुणी और धर्मात्मा हैं। दुःखी जीवों की सेवा करना आपको अत्यन्त प्रिय हैं। मैंने समस्त भरतक्षेत्र ढूंढ डाला पर आपके समान निर्विचिकित्सा अंग का पालन करने वाला नहीं मिला। मैं युगल मूर्ति—राजा और रानी से बहुत प्रसन्न हूँ, आप दोनों ही नैष्ठिक धर्मात्मा और सेवाभावी हैं। देवों में न पाये जाने वाले गुण आप लोगों में मौजूद हैं, इसी कारण देव लोग आपकी

स्तुति करते हैं। रानी की ओर देखकर पुन: वासवदेव बोला—

हे राजन्! इस पुण्यमती को शीलवती भी कहा जा सकता है। शील शिरोमणि नारियों से ही यह संसार चल रहा है। शील में अद्भुत शक्ति होती है। नारी की सबसे बड़ी सम्पत्ति शील है, जिसने इस सम्पत्ति को खो दिया वह संसार में पापिनी है। शीलवती पत्नी संसार में बड़े पुण्योदय से मिलती है। पतिव्रत धर्म का पालन करने से नारी अपनी पर्याय का छेदन कर पुरुषपर्याय को प्राप्त करती है। इस प्रकार स्तुति कर वासवदेव क्षमा करता हुआ स्वर्ग को चला गया।

कुछ दिनों के उपरान्त राजा उद्दायन अपने किसी कार्य से विदेश चले गये। एक दिन प्रभावती की बचपन की सखी तर्कशास्त्र की ज्ञाता नारायणदत्ता नाम की ब्रह्मचारिणी आई। वह मिथ्या भेषधारण किये थी। सर्वत्र यह प्रचार कर रही थी कि मेरे समान विदुषी और ब्रह्मचारिणी अन्य कोई नहीं है। उसकी कीर्ति प्राय: सर्वत्र फैल गयी थी, भक्तों की संख्या भी अपरिमित थी। प्रभावती को देखकर उसने सोचा कि इसका श्राविकापन छुड़ाऊँगी, यह मुझ से बात-चीत भी नहीं करती है और न मुझे नमस्कार ही। अपने को सम्यग्दृष्टि समझती है, अत: इसका अभिमान चुर-चूर करूँगी। यद्यपि रानी प्रभावनी ने उसका आदर-सत्कार किया किन्तु जैसा वर्ताव होना चाहिये था, उसने नहीं किया, क्योंकि मिथ्यादृष्टि को किस प्रकार वह नमस्कार करती?

जैसे सांप को दूध पिलाने पर विष ही उत्पन्न होता है, पित्त प्रकृतिवाले को मीठा दूध पिलाने पर भी कडुवा ही लगता है उसी प्रकार दुष्ट प्रकृति के जीव अपनी गलती भी दूसरों की समझते हैं और नाना प्रकार से भलाई करने पर भी अपने दुष्ट स्वभाव को नहीं छोड़ते। नारायणदत्ता सोचने लगी—बाल सखी समझकर भी इसने मेरे साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। इसे वैभव प्राप्त कर घमण्ड हो गया है।

कमल तालाब को छोड़ दे, हंस कूड़ा-करकट खाने लगे, समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ दे तो स्वभावच्युति का दोष आवेगा। इसी प्रकार मनुष्य भी अपने पद की मर्यादा को छोड़ दे तो बड़ी गड़बड़ी हो जायेगी, रानी अपने पद के अभिमान में

चूर है, अतः यह इसका दोष नहीं किन्तु इसके मद का दोष है। मैं अपने अपमान का बदला इससे अवश्य लूँगी, अतः प्रतिज्ञा करती हूँ कि इसका अविवेकापन दूर किये बिना नमक ग्रहण नहीं करूँगी। योगियों का अपमान करने का फल इसे अवश्य मिलेगा।

वह पुनः सोचने लगी कि चोल नरेश के पास जाना व्यर्थ होगा, क्योंकि वह जैन धर्म का बड़ा भारी श्रद्धानी है। काश्मीर नरेश की पट्टरानी बनने के लायक यह अवश्य है किन्तु वह भी जैन धर्म का अनुयायी है अतः उससे भी मेरा कार्य नहीं हो सकेगा। पाण्ड्य नरेश भी जैन धर्म के आराधक हैं अतः उनसे भी मेरा काम नहीं हो सकेगा। संभवतः मालव नरेश चण्डप्रद्योत के पास जाने से मेरा कार्य हो जायेगा।

उपर्युक्त निश्चय कर उसने प्रभावती का एक सुन्दर चित्र खींचा, उसे लेकर वह उज्जयिनी गई और चण्डप्रद्योत को भेंट किया, राजा चित्र को देखते ही काम बाण से विह्वल हो गया तथा अपनी चेतना को खो बैठा। होश में आने पर वह कहने लगा कि यह किस अनिन्द्य सुन्दरी का चित्र है, तुमने इसे कहाँ पाया? नारायणदत्ता राजन! यह रौरवपुर के राजा की पट्टरानी का चित्र है, यह अद्भुत रूप राशि है इसकी तुलना अप्सराओं से नहीं जा सकती है। आपकी पट्टरानी बनने के यह योग्य है, मैं इसी बात की सूचना आपको देने के लिये आयी हूँ।

राजा ने नारायणदत्ता को प्रचुर धन दिया, खूब सम्मान किया तथा मधुर वचन कहकर पूछा कि प्रभावती रानी को प्राप्त करने का उपाय क्या है?

नारायणदत्ता—राजन्! इस समय राजा उद्दायन भी राज्य में नहीं है, वह विदेश गया है। अतः इस समय आप जल्द जाकर उसे ले आइये, आपका काम हो जायेगा। उद्दायन् राजा के रहने पर आपका काम आसानी से नहीं होगा, क्योंकि वह बड़ा ही पराक्रमी, शूरवीर और युद्धकला का मर्मज्ञ है।

मालव नरेश ने नारायणदत्ता की बात स्वीकार कर रौरवपुर को प्रस्थान किया और जल्दी ही वहाँ पहुँच कर राज्य को घेर लिया। सालंकार नाम की दासी को रानी प्रभावती के पास भेजा और सन्देश कहलाया। दूती जाकर कहने लगी—

हे महारानी! हमारे राजा चण्डप्रद्योत ने आपका सुख समाचार जानने के लिये मुझे यहाँ भेजा है। टालमटूल (बहाना) करने की कोई बात नहीं है, आप लोगों की जोड़ी ठीक मिलेगी। आप दोनों सुखी हो जायेंगे। मालव नरेश शूरवीर और बलशाली है, आपको ऐसे प्रभावशाली राजा की पत्नी बनने से गौरव प्राप्त होगा। उद्दायन की मालव नरेश से कोई तुलना नहीं, कहाँ यह जुगनू और कहाँ वह इन्द्र, यह अदना सिपाही है तो वह रणक्षेत्र में हुंकारने वाला सिंह। आप सच मानिये सांसारिक भोगोपभोगों की वहाँ कुछ भी कमी नहीं है, सभी भोग सामग्रियां प्रचुर परिमाण में एकत्रित की गई हैं। इस प्रकार प्रभावोत्पादक ढंग से राजा के गुणों का वर्णन करने लगी। अपनी बात को समझाती हुयी कहती जाती थी कि मालव नरेश को प्राप्त करने से आपका भाग्य सितारा चमक जायेगा। आप पट्टमहिषी बनकर शासन करेंगी, अन्य रानियां आपके चरणों की दासी बनी रहेंगी तथा आपकी आज्ञा को सिर आँखों पर रखकर मानेंगी।

हे तरलाक्षी! आपकी एक तस्वीर राजा के पास है, राजा उस तस्वीर को देखते ही विरह से विह्वल हो गया है। अपनी सेना सहित मालव नरेश स्वयं यहाँ पधारे हैं, आप मेरे साथ चलिये और जीवन को सुखमय बनाईये। ऐसा सौभाग्य विरले ही पुण्यशाली जीवों को प्राप्त होता है। जीवन को यों ही बिता देना ठीक नहीं, इसका सदुपयोग करना चाहिये। यद्यपि मैं मानती हूँ कि आप पट्टरानी यहाँ पर भी हैं, परन्तु मालव में जो सुख भोग प्राप्त होंगे, वे यहाँ कभी भी नहीं मिल सकते हैं। सुन्दर वस्त्राभूषण, इत्र-फुलेल आदि सुगन्धित पदार्थ तथा अन्य भोग सामग्री की वहाँ प्रचुरता है। रानी प्रभावती—अरी मूर्खा! परस्त्री में लीन रहने वाला कभी सत्पुरुष नहीं हो सकता है, वह कभी गुरु की भक्ति नहीं कर सकता है। अतः आपका राजा दुर्जन है, सज्जन नहीं; पशु है, मनुष्य नहीं; मूर्ख है, ज्ञानी नहीं; हिंसक है, अहिंसक नहीं; क्रूर है, दयालु नहीं; पापी है, धर्मात्मा नहीं और मिथ्यादृष्टि है, सम्यक्दृष्टि नहीं। ऐसे राजा की प्रशंसा करते हुए तुझे शर्म आनी चाहिये।

दूती—अरी रानी साहिबा! धर्म का ठेका आपने ही नहीं ले रखा है। धर्म वास्तव में खाने-पीने और आनन्द लूटने में है। हमारा नरेश जीवन के वास्तविक तत्त्व से परिचित है अतः संसार में सुन्दर वस्तुओं का उपभोग करना चाहता है।

साधुओं और शास्त्रों के वचन स्वार्थियों के हैं, जिन्हें संसार के भोगोपभोग नहीं मिलते हैं, वे ही ऐसी नीरस बातें किया करते हैं। जीवन का वास्तविक सुख भोग में है। आप पागलों की सी बातें क्यों कर रही हैं, आनन्द से भोग भोगिये। ऐसे सुन्दर शरीर को प्राप्त कर भी आप भोगों से वंचित रहना चाहती हैं, वास्तव में आपसे बढ़कर मूर्ख अन्य कोई नहीं होगा।

रानी प्रभावती—अरी दुष्टा! बोलते हुए तेरी जीभ कट क्यों नहीं जाती है? तू पाप का समर्थन करते हुए तनिक भी भय नहीं कर रही है। व्यभिचारी, जुआरी, चोर और गुण्डों के यहाँ पर भी नरक के समान दुःख भोगना पड़ता है। पापी का संसार में कहीं उद्धार नहीं हो सकता। जो पाप में सुख समझता है, वह अबोध ही नहीं निरा मूर्ख है।

दूती—रानी साहिबा! ज्ञान ध्यान की बात छोड़ दीजिये, आप सीधे न मानेंगी तो आपको जबरदस्ती हमारे नरेश की बात माननी पड़ेगी। आप जानती हैं कि इस समय आपका कोई भी रक्षक नहीं। हमारी विशाल सेना के सामने आप अकेली क्या कर सकेंगी। यदि राजा उद्दायन आज लौट भी आवे तो भी कुछ नहीं हो सकता है। राजा उद्दायन की शक्ति कितनी है, सेना भी उनके पास थोड़ी है, अतः मेरी बात मान लेने में ही आपका कल्याण है, इसमें आपकी सब प्रकार से भलाई है। जिस शील की आप दुहाई दे रही हैं, वह आपकी कुछ भी सहायता नहीं कर सकेगा। व्यर्थ ही आप खतरा मोल ले रही हैं। स्त्री के लिये शील क्या वस्तु है, जहाँ जाये वहीं आराम से रहने लगे, यही तो उसका शील है। पति भक्ति करनी चाहिये, यह मैं मानती हूँ, आप वहाँ चलकर अपने नये पति की भक्ति कीजियेगा। नया पति ज्यादा सुख पहुँचावेगा।

प्रभावती रानी—अरी बदतमीज! तू अभी अनाप सनाप बोलती जाती है, तुझे धर्म कर्म से बिल्कुल डर नहीं। परमात्मा के नाम पर कुछ तो धर्म का निर्वाह कर। तूने अपने को बेच दिया है, गुलाम व्यक्ति की यही अवस्था हो जाती है। तू शील का महत्व क्या समझेगी? शील व्रत को छोड़कर जीवित रहना कुत्तों का जीवन व्यतीत करना है। क्या कुत्ते जलेबी के स्वाद को समझ सकते हैं, विषयी श्वान को तो सूखी हड्डी ही स्वादिष्ट प्रतीत होती है।

दूती—रानी साहिबा! आप क्रोधित न हों। मैं संसार की सच्ची-सच्ची बातें आपके सामने रखती हूँ। जीवन पानी के बुल-बुले के समान क्षणिक है, अतः जितना बन सके इससे सुख भोगना चाहिये। यदि मरते समय किसी भी प्रकार की लालसा बनी रह जावे तो निश्चय ही जीव को उसे पूरा करने के लिये संसार में जन्म लेना पड़ता है। आप ने कभी भोगों को भोगा ही नहीं है, अतः आप इसके सम्बन्ध में क्या जानें। धर्म कर जीवन सुखा लेना महान् बेवकूफी है। मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि जीवन में वास्तविक सुख विषयों के सेवन से ही आ सकता है। संकीर्ण विचार वालों ने अथवा असमर्थ लोगों ने धर्म का ढकोसला फैला रखा है।

प्रभावती—अन्धा चलते समय आगे के गड्ढे को नहीं देखता है, उसी तरह पाप के उदय से जीव नरक ले जाने वाले कार्यों को नहीं समझता है। परलोक और आत्मा का अस्तित्व मूर्ख लोग नहीं मानते हैं।

दूती—हे कमलमुखी! ज्यादा बातें न करो, आपकी बातों में कुछ भी सार नहीं है। आप हमारे महाराज की पट्टमहिषी बन जाइये, आपका इसी में कल्याण होगा। राजा तुम्हारे कारण तुम्हारे देश की प्रजा को महान् कष्ट पहुँचा रहा है। यदि वास्तव में आप दयालु हैं तो अपनी प्रजा पर दया करें, दुःखी प्रजा का दुःख आपके आत्म समपर्ण से कम हो सकता है। आप कहने के लिये धर्म का ढोंग धारण किये हैं, पर वास्तव में धर्म कुछ भी नहीं जानती हैं। मालव नरेश तुम्हारे लिये जान दे रहा है और तुम उसकी परवाह भी नहीं करती हो, क्या यह हिंसा नहीं है। एक आदमी मर रहा है और धर्म-धर्म चिल्ला रही है, अतएव सब किसी की भलाई इसमें है कि आप प्रसन्नता पूर्वक मालव नरेश को स्वीकार कर लें।

प्रभावती—दुष्टा! तू सती के सत को क्या समझेगी? सती के तेज से तीनों लोक जलकर राख हो सकते हैं। त्रिखण्डाधिपति रावण परस्त्री के मोह में अपना सर्वनाश कर चुका है, तब मालव नरेश जैसे क्षुद्रों की गणना ही क्या है? शील के समान संसार में सुखदायक अन्य कुछ भी नहीं है। हट यहाँ से अन्यथा तेरे प्राण ले लूँगी।

रानी को क्रोधित और उत्तेजित देखकर दूती अपने प्राण लेकर भागी और राजा से सारी बातें कह दी। मालव नरेश कहने लगा कि सीधे ढंग से नहीं मानती है, तो बल पूर्वक मानना पड़ेगा। जब यहाँ तक आ गये हैं, तो अब बिना कार्य सिद्ध हुए लौटना मूर्खता है। मेरे समक्ष संसार भी युद्ध करने आ जाये तो भी मैं विजयी हो जाऊँगा। उद्यायन की सेना कितनी है, इसकी तो मुझे कुछ परवाह नहीं, हाँ निन्दा का डर अवश्य है, पर निन्दा तो अब हो ही चुकी है, अतः जैसे भी बने इस नारी रत्न को अपने नियन्त्रण में लेना चाहिये। इस प्रकार सोच-विचार कर राजा ने अपने दण्डाधिपति को आदेश दिया कि सेना की एक टुकड़ी ले जाकर बल पूर्वक रानी प्रभावती को ले आओ। इस कार्य के लिये तुम्हें इच्छित पुरस्कार मिलेगा।

जब रानी प्रभावती को दण्डाधिपति के आने का समाचार मिला तो वह विचारने लगी कि इस समय राजा तथा प्रधान सेनापति बाहर गये हैं, अपने पास जो थोड़ी सी सेना है, वह इतनी बड़ी सेना का सामना नहीं कर सकेगी। हाय बड़ी विपत्ति आई, इस समय राज्य में कोई भी बड़ा सामन्त नहीं है, सभी राजा के साथ गये हैं, किस प्रकार इस परस्त्री लोलुपी दुष्ट राजा का सामना किया जाये। इस समय सबसे श्रेष्ठ उपाय यही है कि चारों प्रकार के आहार का त्याग कर उपसर्ग दूर होने तक समाधिमरण ले लिया जाये। धर्माचरण पूर्वक मृत्यु प्राप्त होने से परलोक तो सुधर जायेगा। शील व्रत को मैं जीवन पर्यन्त नहीं छोड़ सकती हूँ, प्राण चले जाना मुझे स्वीकार है, पर शील का छोड़ना नहीं।

इतने में दण्डाधिपति ने आकर फाटक तोड़ दिया और नगर के भीतर प्रविष्ट हो गया। पहरेदार को सिपाहियों ने तलवार से मौत के घाट उतार दिया और आगे बढ़ते चले गये। सेना को रोकने वाला कोई था नहीं, अतः सेना तेज गति से आगे बढ़ती गई। इधर रानी प्रभावती नासाग्र दृष्टि लगाकर ध्यान में मग्न थी उसने समस्त चिन्ताओं को छोड़ दिया था। केवल प्रभुचरणों का ध्यान ही उसके जीवन का सर्वस्व था।

नन्दीश्वर द्वीप के अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना के लिये आकाश मार्ग से जाते हुए देवों का विमान रौरवपुर के ऊपर अटक गया। सती प्रभावती के सतीत्व

ने देवों के विमान को कीलित कर दिया। जब देवों ने अवधिज्ञान से विमान के अटकने के कारण को देखा तो मालूम हुआ कि इस नगर में किसी सती के ऊपर विपत्ति आई है। एक सती के ऊपर मालव नरेश के इस प्रकार के अत्याचार को देखते ही एक सम्यग्दृष्टि देव को अत्यन्त क्रोध आया और उसने चण्डप्रद्योत की सेना को हवा की तरह उड़ाकर उज्जायिनी में ला उपस्थित किया।

रानी प्रभावती की परीक्षा करने के लिये उस देव ने चण्डप्रद्योत का रूप धारण किया और समस्त प्रजा को महानिद्रा में मग्न कर विक्रिया ऋद्धि के बल से चतुरंग सेना तैयार की और गढ़ को चारों ओर से घेर लिया। नगर में मायावी आग लगादी, रास्ते में कृत्रिम रक्त की धारा बहने लगी, सर्वत्र भय व्याप्त कर दिया और प्रभावती देवी के पास आकर बोला—मैंने तुम्हारी सेना को मार डाला है, अब आप पूरी तरह से मेरे आधीन हैं, अत: आँखें खोलकर मेरी ओर देखिये। आपके पति उद्दायन राजा को भी पकड़कर कैदकर लिया है। अब मेरा सामना करने वाला कोई नहीं है। आप अब मेरे साथ चलिये और पट्टरानी बनकर संसार का आनन्द भोगिये।

रानी राजा चण्डप्रद्योत के रूपधारी देव के वचनों को सुनकर पञ्चनमस्कार मंत्र के ध्यान में और भी लीन हो गई और स्थिरता पूर्वक जिनेन्द्र प्रभु के गुणों का चिंतन करने लगी। उसने निश्चय किया कि प्राण जाने तक भी शील को नहीं छोड़ूँगी।

देव पुन: कहने लगा—प्रिये! देखो मैं कितना प्रतापी हूँ। तुम्हें कितना सुख दूँगा, इसे तुम नहीं जानती हो? एक बार प्रेम पूर्वक मेरी ओर देखिये। अब राजा उद्दायन से मिलने की आशा छोड़ दीजिये, इसको मैं अपने जादू घर में रखूँगा, यह कौतुक का कार्य करेगा। देखो! तुम्हारा पति तो अब बन्दी बन ही गया है, अत: इस युवावस्था में किसी युवक के साथ रहकर जीवन बिताइये। शील-शील की माला क्यों जपती हो, इस शील के द्वारा तुम्हारी रक्षा नहीं हो सकती है। इस प्रकार उस परीक्षक देव ने नाना प्रकार से रानी प्रभावती को विचलित करने का प्रयत्न किया, किन्तु वह उत्तरोत्तर दृढ़ होती गयी।

अनन्तर देव ने अपना वास्तविक रूप धारण कर कहा—देखो मैं देव हूँ, मैंने

अपने दिव्य ऋद्धि बल से वहाँ की सेना और प्रजा को मूर्छित कर दिया है, चण्डप्रद्योत की सेना को भी उज्जयिनी पहुँचा दिया है, अब तुम्हारे ऊपर उपसर्ग नहीं है। अपने शील के प्रभाव से तुमने देवों को किंकर बना लिया है। मैंने आपकी परीक्षा की थी, आप सती शिरोमणि हैं। धन्य है आपके शील व्रत को, मध्यलोक वास्तव में सती नारियों के सतीत्व पर ही अवलम्बित है। इस प्रकार कहकर पारिजात पुष्पों से रानी की पूजा की; आकाश में दुन्दुभि बाजे बजने लगे, पुष्पवृष्टि होने लगी। सती शिरोमणि की नाना प्रकार से जयध्वनि आकाश में गूंजने लगी।

प्राचीन पुरुष रत्न के चरित्र बतलाने वाले, जिन भगवान् के चरणों में भ्रमर की तरह तल्लीन रहने वाले सम्यक्त्वरूपी आभूषणों को धारण करने वाले, दया के समुद्र, सुमेरु के समान धैर्यशाली, राजाओं के द्वारा वन्दनीय उद्दायन राजा की सभी ने स्तुति की।

विदेश से लौटने पर जब राजा उद्दायन को उपर्युक्त समाचार मिला तो उसे संसार से बड़ी विरक्ति हुई और वह अपने बड़े पुत्र अरिञ्जय को राज गद्दी दे तपस्या करने चला गया। जाते समय उसने अपने पुत्र को उपदेश दिया—जिनेन्द्र भगवान् के चरणों में सदा लीन रहना, दुष्टों को दण्ड, शिष्टों का अनुग्रह करना तथा दान-पूजा भक्ति आदि कार्यों को निरन्तर करना चाहिये। इस प्रकार उपदेश देकर चला गया और जिन दीक्षा लेकर तपस्या की तथा अष्टकर्मों को नष्ट कर निर्वाण पाया। रानी प्रभावती ने भी आर्यिका के पास जाकर दीक्षा ली और तपश्चरण किया। अन्त में ब्रह्मस्वर्ग में दस सागरोपम आयु प्राप्त कर महा ऋद्धिधारी देव हुई।

यह निर्विचिकित्सा अंग मोक्षलक्ष्मी के लिये तिलक के समान, मिथ्यात्वरूपी हाथी के लिये सिंह के समान और समस्त सुखों की खान है। इस प्रकार निर्विचिकित्सा अंग की कथा गौतम गणधर ने राजा श्रेणिक से कही। राजा श्रेणिक के हृदय में इस कथा को सुनकर अत्यन्त श्रद्धा उत्पन्न हुई और उन्होंने अपने सम्यग्दर्शन को दृढ़ किया।

चौथी कथा समाप्त

पांचवी : अमूढ़ दृष्टि अंग की कथा

राजा श्रेणिक ने निर्विचिकित्सा अंग की कथा सुनकर गौतम गणधर से अमूढ़ दृष्टि अंग की कथा जानने की इच्छा प्रकट की।

गौतम गणधर—राजन्! मूढ़ता को छोड़कर पाखण्ड के आधीन न होना तथा मूर्ख लोग जिन दम्भों को करते हैं, उन्हें छोड़ना अमूढ़दृष्टि है। मूढ़ताएं तीन प्रकार की होती हैं, प्रथम कुछ लोग देवों में मूर्खता करते हैं, अर्थात् रागी-द्वेषी को देव समझ लेते हैं। परन्तु सत्य यह है जो रागी-द्वेषी नहीं है, क्रोध-मान-माया-लोभ कषायों से रहित है, जितेन्द्रिय है, सर्वज्ञ है, हितोपदेशी है, वही सच्चा देव हो सकता है। जिसके मनमें राग-द्वेष लगा है वह निष्पक्ष बात कह नहीं सकता है, उसकी बात सभी जीवों को सुखकर नहीं हो सकती है। जब तक लोभ, स्वार्थ, मोह, घृणा, ईर्ष्या आदि लगे रहेंगे, तब तक व्यक्ति में समदृष्टिपना नहीं आ सकता है। जो लोग मूर्खतावश रागी-द्वेषी व्यक्तियों को देव मान लेते हैं, उनका कभी ऐसे देवों से हित नहीं हो सकता है। हिंसक, विषयी देवों की आराधना, भक्ति और पूजा से आत्मिक गुणों का विकास नहीं हो सकता। विवेकी जीव को इस प्रकार के देवों की उपासना नहीं करनी चाहिये अतः जिन्हें राग-द्वेष से रहित देव के सम्बन्ध में पूरी जानकारी हो गई है, वे सच्चे देवों की उपासना से स्वयं देवत्व को प्राप्त होते हैं।

लोक मूढ़ता का अर्थ यह है कि लोक प्रचलित बातों में मूर्खता करना। लोक व्यवहार में अनेक मूर्खताएं प्रचलित हैं यथा गंगा स्नान से पुण्य समझना, बालू-पत्थर आदि के ढेर लगाकर उन्हें पूजना, अग्नि में जलने से पुण्य समझना, नदी में डूबकर मृत्यु प्राप्त करने में पुण्य समझना, किसी स्थान विशेष पर मृत्यु की कामना करना और सोचना कि उस स्थान पर मृत्यु होने से निर्वाण मिल जायेगा। इसी प्रकार के और भी अनेक व्यवहार हैं, जो मूर्खता में परिगणित किये जा सकते हैं। इन समस्त प्रकार के अन्धविश्वासों को त्याग कर विवेक से काम लेना ही व्यक्ति की विशेषता है। सम्यग्दृष्टि जीव समस्त प्रकार के भय और आतंकों से रहित हो विवेक पूर्वक अपनी प्रवृत्ति करता है।

गुरु मूढ़ता तीसरी मूढ़ता है, इसका अर्थ यह है कि पाखण्डी, ढोंगी, विषयलोलुपी गुरुओं की भक्ति करना। ऐसे गुरु संसार समुद्र में स्वयं डूबते हैं और अपने भक्तों को डुबाते हैं। गुरु तीन प्रकार के बताये गये हैं—प्रथम गुरु वे हैं जो संसार में नौका के समान हैं, जिस प्रकार नौका में सवार होकर अन्य व्यक्ति नदी को पार कर लेते हैं तथा स्वयं नौका भी पार हो जाती है, उसी प्रकार जो स्वयं कर्म बन्धन को नष्ट करते हैं तथा अपने आराधकों के कर्म-बन्धन नष्ट करने के उपाय बतलाते हैं। ऐसे गुरु सभी प्रकार के परिग्रह से रहित दिगम्बर जैन साधु ही हो सकते हैं। इनके जीवन में अहिंसा सभी प्रकार से व्याप्त रहती है, ये अपने पास तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखते हैं।

दूसरे प्रकार के गुरु कागज की नाव के समान होते हैं। जिस प्रकार कागज की नाव स्वयं तो नदी के प्रवाह में पड़कर वायु के वेग से पार हो भी जाती है, किन्तु उसका आश्रय लेने वाला अवश्य बीच में ही डूब जाता है। यही हालत थोड़ा-बहुत परिग्रह रखने वाले तथा भीतर से समस्त विषयों की लालसा से रहित गुरु की होती है। ऐसे गुरुओं का आश्रय लेने से भी आत्म कल्याण नहीं हो सकता है।

तीसरे प्रकार के गुरु पत्थर की नौका के समान हैं, जिस प्रकर पत्थर की नाव नदी में स्वयं डूबती है तथा उस पर सवार होने वले डूब जाते हैं, उसी प्रकार रागी-द्वेषी-मानी-मायावी-लोभी-विषयी-परिग्रहवान् गुरुओं की सेवा-भक्ति करने से संसार में ही भ्रमण करना पड़ता है। गुरु का स्थान महत्वपूर्ण है, क्योंकि मोक्ष का रास्ता गुरु के द्वारा ही मिलता है, पर जो गुरु स्वयं मोक्ष का रास्ता नहीं जानता है, वह दूसरों को क्या रास्ता बतावेगा? अतएव सच्चे देव, गुरु और शास्त्र का श्रद्धान करना तथा कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र-कुधर्म का त्याग करना, सम्यग्दृष्टि होने का चिन्ह है। अमूढ़दृष्टि अंग का धारी सभी प्रकार की मूर्खताओं से रहित होकर सद्विवेक द्वारा अपनी प्रवृत्ति करता है, जिससे वह कल्याण मार्ग को प्राप्त कर लेता है।

राजा श्रेणिक—स्वामिन्! इस अंग के धारी की कथा कहने की कृपा करें।

गौतम गणधर—राजन्! इस भरतक्षेत्र में नाना प्रकार के सौन्दर्य से परिपूर्ण शौरसेन नाम का देश है। इस देश में अनेक दिव्य जिनालयों से परिपूर्ण उत्तर मथुरा नाम की नगरी है। इस नगरी में वरुण नाम का महामण्डलीक राजा राज्य करता था, इस राजा की पट्टरानी रेवती थी। यह जिनेश्वर की भक्ति में शची के समान, पतिव्रता में सीता के समान एवं विलास में रति के समान थी। सद्‌गुणों के आभरण से अलंकृत, जिनेन्द्र भक्ति में तल्लीन और नाना प्रकार के हाव-भाव में निपुण रेवती रानी सुख भोगती थी।

विजयार्द्ध की दक्षिण श्रेणी में मेघकूट नाम का एक नगर था। इसमें पृथ्वी में स्तुत्य, विद्याधरों के द्वारा पूज्य, जिनेन्द्र भगवान का परम भक्त, दयालु और सद्‌गुणी चन्द्राभ नाम का राजा राज्य करता था, उसकी पट्टरानी सुमति महादेवी थी, इनके चन्द्रशेखर नाम का पुत्र था। दोनों पुत्र के प्रेम में मग्न हो राज्य करते थे।

एक दिन चन्द्राभ राजा विद्याधरों के साथ बैठा हुआ वराङ्गनाओं के नृत्य देखने में तल्लीन था। प्रेम के साथ अनेक विद्याधर आकाश मार्ग से संगीत सुनाने के लिये आ रहे थे, राजा अपने प्रभाव को देखकर प्रसन्न था। उसका ध्यान आकाश की ओर लगा हुआ था। मृगों के समूह के समान, हाथियों के समुदाय के समान, वन के वृक्षों में समान, मयूरों के समुदाय के समान, कोमल सच्चिकण बालों के समान, पर्वतों के समुदाय के समान, मनुष्य-गाय-बन्दर आदि के समूह के समान विभिन्न आकृति के बादलों से युक्त आकाश दिखलाई पड़ा। नाना आकृति वाले विचित्र वर्ण के बादलों को देख कर चन्द्राभ नृप अत्यन्त आश्चर्यान्वित हुआ और सोचने लगा कि जिस प्रकार यह मेघ पटल क्षण भर में अपने विभिन्न रूप और आकृतियों को दिखलाकर विलीन हो रहा है, वैसे ही सांसारिक सुख क्षणभर में नष्ट होने वाले हैं। मोह के कारण संसार के प्राणी इन विषय-जन्य सुखों में लीन रहते हैं,पर वास्तव में ये सुख अस्थिर और नीरस हैं।

लक्ष्मी इन्द्र धनुष के समान क्षणिक, युवावस्था कोयले की राख के समान सारहीन, स्त्रियों का प्रेम जीर्ण शीर्ण वृक्ष के समान हीन, विभूति ओस की बूँद के समान अस्थिर, कीर्ति बालू के ढेर के समान अस्थायी, धन और आयु तिनकों

की अग्नि के समान क्षणध्वंसी, शोक मेघ पटल के समान क्षणभंगुर, सांसारिक वैभव और विलास नवीन वृक्ष के समान वायु के एक ही झोंके से गिरने वाले हैं। इस प्रकार विचार करते ही विद्याधर संसार से विरक्त हो गया। जब तक कर्म का उपशम नहीं होता, तभी तक स्पर्शनेन्द्रिय के अधीन होकर हाथी मनुष्यों के वश हो दुःख सहता है, नेत्र इन्द्रिय के आधीन हो पतंगा अपने जीवन का बलिदान करता है, मृग श्रवणेन्द्रिय के अधीन हो मनोहर गान सुनता हुआ शिकारी के बाण द्वारा मृत्यु को प्राप्त होता है। वृक्षों को छेदन करने की शक्ति से युक्त भ्रमर घ्राण इन्द्रिय के आधीन होकर कमल पंखुड़ी में बंध जाता है। रसनेन्द्रिय के वश होकर मीन अपनी जीवन लीला समाप्त कर देती है। जब एक-एक इन्द्रिय के विषयों में लीन रहने वाले जीवों की यह हालत है तब पांचों इन्द्रियों के आधीन रहने वाले मनुष्यों की क्या अवस्था होगी? इन्द्रियों की आधीनता बुरी वस्तु है। मैंने अब तक इन्द्रियों के आधीन होकर महान् पाप का बंध किया है, मेरी आत्मा पाप पंक में लिप्त है। अब समय आ गया है अतः आत्म कल्याण के लिये उत्साहित होना चाहिये। उसकी विचारधारा और आगे बढ़ी और सोचने लगा।

यह शरीर मल का ढेर है, इसमें लार-मूत्र आदि अपवित्र पदार्थ भरे हैं। एक दिन यह मिट्टी में मिल जायेगा। इसी को प्राप्त कर मनुष्य कितना घमण्ड करता है, दूसरों को छोटा, नीच, तुच्छ और हीन समझता है। अपने को संसार में बड़ा समझता है।

परिग्रह की लालसा इस जीव की बढ़ती चली जती है। जिस प्रकार सिंह, रीछ, बाघ प्राणियों को मारकर खा जाते हैं। उसी प्रकार परिग्रह पिशाच मनुष्य की मनुष्यता को खा लेता है। इसके समान अन्य कोई पाप नहीं है। परिग्रह संचय के लिये व्यक्तिको नाना प्रकार के पाप अत्याचार करने पड़ते हैं। तृष्णा ऐसी पिशाचिनी है कि परिग्रह बढ़ता जाता है, यह और वृद्धिंगत होती है। इसे शांत होने का अवसर ही नहीं मिलता, अतः मनुष्य जीवन की सार्थकता विरक्ति में है। जो ऐसे सुन्दर शरीर को पाकर त्याग, तप नहीं करता, उसके समान संसार में अन्य कोई मूर्ख नहीं हो सकता। इस प्रकार विचार कर विद्याधर ने चन्द्रशेखर पुत्र को बुलाकर कहा।

हे राजकुमार! लक्ष्मी के विलास में लगकर मैंने मोह के कारण अपने कल्याण का स्वयं घात किया है। अत: अब मैं मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करने वाले जिनेन्द्र भगवान् के चरणों की शरण में जाता हूँ। तुम इस विद्याधर के राज्य को संभालो। राजा के इन वचनों को सुनकर राजकुमार कहने लगा—

हे पिताजी! आप नित्य और शाश्वत सुख को ग्रहण करें और मैं दुर्गति में ले जाने वाले राज्य का संचालन करूँ, यह कैसे संभव है? विचार कर देखने से प्रतीत होता है कि संसार में जितने भी सुन्दर पदार्थ हैं, शक्ति के अनुसार पिता-पुत्र को देता है। दुर्गति में ले जाने वाले क्षणिक सुखदायी राज्य को आप मुझे कैसे दे रहे हैं? अत: हे पिताजी! आपका प्रेम मेरे ऊपर है तो नरक गति को ले जाने वाले इस राज्य को कैसे दे रहे हैं? मुझे आपके इस कृत्य से आश्चर्य हो रहा है।

राजा—राजकुमार! पहले राज्य करो, संसार का सुख भोगो। विवाह करने के उपरान्त जब सन्तान हो जाय, तो तुम भी समर्थ सन्तान को राज्य देकर तपस्या करना। अभी तुम्हारा समय तप करने का नहीं है, राज्य परम्परा को कायम रखने के लिये आपका राजा होना आवश्यक है। मेरा यह समय तपस्या करने का है, तुम्हारा नहीं। प्राचीन काल में जैसे राजा नाभिने अपने पुत्र ऋषभ को राज्य दिया, ऋषभ ने अपने पुत्र भरत को तथा भरत ने अपने पुत्रों को राज्य दिया। इसी परिपाटी के अनुसार मैं भी तुम्हें राज्य देना चाहता हूँ, परिपाटी को छोड़ना उचित नहीं। इस प्रकार राजा ने मधुर वचनों से राजकुमार को सन्तुष्ट किया और उसके मुख की ओर देखकर कहने लगा।

पुत्र! सदाचार सदा पालना, गुणों में लीन रहना, धर्म का पालन करना, सदा भगवान् की भक्ति करना, अभिमान में आकर कभी किसी जीव को दु:ख न देना, किसी का अपमान न करना, जैन मुनियों की भक्ति करना, नम्र होकर रहना, दुखियों पर दया करना, आदि बातों का पालन सदा करना चाहिये। कुमार तुम होनहार हो, तुमको संसार से निर्लिप्त रहते हुए पृथक् रहना चाहिये। जैसे कमल पत्र पर पड़े हुए जलबिन्दु कमल से अलग रहते हैं, इसी प्रकार राज्य संचालन करते हुए भी उसमें लिप्त न होना, व्यक्ति की जागरूकता है। दु:ख और पाप के रूपको समझ

कर उससे इस प्रकार अलग रहना, जैसे मोती सीप का स्पर्श करता हुआ भी उससे भिन्न रहता है। धर्म, राजनीति, जिन भक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि करने से ही राज्य स्थिर रहता है। जैसे नौकर को कार्य पूरा हो जाने पर छोड़ देते हैं, उसी प्रकार सच्चरित्रता प्राप्त होने पर विचारशील दुश्चरित्रता को छोड़ देते हैं। इस तरह पुत्र को समझा कर और राज्य भार देकर दीक्षा ग्रहण करने के लिये चन्द्राभ पाण्ड्यदेश की दक्षिण मथुरा में विमान द्वारा आया।

यह नगरी अत्यन्त ही सुन्दर और रमणीक थी। इसमें भव्य जिनालय थे, इनके दर्शन करता हुआ वह एक जिनालय में पहुँचा। यहाँ पर एक विद्याधर को राजा ने भगवान् के दर्शन के लिये आते हुए देखा। यह विद्याधर अत्यन्त सुन्दर और मनोज्ञ था। इसका प्रत्येक अंग दर्शनीय था, इसके साथ अनेक विलासी अंगनाएं थीं। इस मन्दिर में अनेक विद्याधर स्वर्ग के देवों के समान दर्शन पूजन में संलग्न थे। इन विद्याधरों के विमान चीन महाचीन आदि देशों के वस्त्रों की ध्वजाओं से युक्त थे।

इस जिनालय में भगवान् की वेदी हरित वर्ण की मणियों से युक्त मोतियों के द्वारा निर्मित थी। इसी समय मथुरा का राजा चित्रवाहन नगर के समस्त चैत्यालयों के दर्शन करता हुआ अपने द्वारा निर्मित भूत हित चैत्यालय में आया। मन्दिर में जाकर उसने भक्ति-भाव सहित भगवान् के दर्शन किये तथा स्तुति करता हुआ भक्ति में लीन हो गया।

पूजा करने के उपरान्त भगवान् शान्तिनाथ की स्तुति करने लगा। पश्चात् पाण्ड्य नरेश ने मुनिराजों को नमस्कार कर उनकी धर्म देशना सुनी, अनन्तर वह राज्यमन्त्रियों सहित अपने दरबार की ओर चला गया। विद्याधर उस पाण्ड्य नरेश चित्रवाहन को सम्यग्दृष्टि समझकर विचारने लगा कि यह राजा धन्य है, जो सम्यग्दृष्टि भक्त, श्रद्धालु और धर्मात्मा है। यह कुल ऐश्वर्य और भगवान् की भक्ति में बहुत बढ़ा-चढ़ा है। इसकी कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी आदि गुण क्या अन्य किसी में आ सकते हैं? इस प्रकार चन्द्राभ विद्याधर पाण्ड्य नरेश की महिमा से आश्चर्यान्वित हो विचारने लगा कि इस राजा के राज्य में कोई भी मिथ्यादृष्टि नहीं

होगा। जब राजा सम्यग्दृष्टि है तो प्रजा अवश्य सम्यग्दृष्टि होगी; क्योंकि प्रसिद्ध भी है कि 'यथा राजा तथा प्रजा।'

इस प्रकार राजा चित्रवाहन के सम्बन्ध में ऊहा-पोह करने के उपरान्त चन्द्राभ ने दर्शन, पूजन किया। अनन्तर मुनिगुप्त मुनिराज के पास जाकर नमोऽस्तु किया। वे जिन शास्त्रों के ज्ञानी, सज्जनों के द्वारा वन्दनीय, रत्नत्रय से विभूषित एवं अध्यात्मरत योगी थे। हाथ जोड़कर इनसे चन्द्राभ ने मुनि दीक्षा की याचना की।

मुनिराज—वत्स! तपश्चर्या मामूली वस्तु नहीं है, संसार में बिना वैराग्य के न तप ही होता है और न आत्म-साधना ही। शास्त्रज्ञान और सच्ची विरक्ति के बिना दीक्षा लेना निरर्थक है। जिस प्रकार अन्न, जल, अग्नि के होने पर पाकक्रिया की जानकार नारी ही भोजन बना सकती है, अन्य नहीं; इसी तरह शास्त्रज्ञान और सच्ची विरक्ति के बिना दीक्षा कभी भी सफल नहीं हो सकती है। अतः योगी के लिये 28 मूलगूण और 13 प्रकार के चारित्र का पालन करना अत्यावश्यक है। इनमें से एक गुण कम होने पर मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है। पानी, अग्नि, चावल, दाल, आदि के अनुपात का यथार्थ ज्ञान न होने पर जिस प्रकार रसोई ठीक नहीं बनती है, उसी प्रकार मुनिधर्म के गुणों में से किसी एक गुण के कम होने पर कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है। मूल गुणों के नष्ट होने से इहलोक और परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं। अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर जो उद्दण्ड हो जाता है, वह मुनि नहीं है। ऐसा उद्दण्ड मुनि केवल आत्मवंचना करता है।

अभीष्ट वस्तु चाहे भक्ष्य हो या अभक्ष्य उसे अपने नियम में रख लेना तथा अनिच्छित वस्तुओं को भक्ष्य होने पर भी त्याग देना, मन-मानी चर्या करना, गण्डाताबीज देना, ऊंट-पटांग ढंग से अपनी बात को समझाना ही उद्दण्डता है। बच्चों की सी बातें करने वाले, अन्य मुनियों से ईर्ष्या करने वाले, दूसरों की निंदा और स्तुति में भाग लेने वाले, स्वेच्छाचार करने वाले व्यक्ति कभी भी निवृत्ति प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

कल्पित कथाएं कहना, आगम के अर्थ को बदलना, कषाय के आधीन होना मुनि का कार्य नहीं है। अपने संघ को छोड़कर पाखंडी मिथ्यादृष्टियों की स्तुति

करने से कभी भी सद्गति की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अपनी स्तुति करना, भव्य की निन्दा करना, अन्य के गुणों की प्रशंसा सुनकर जलना साधु का कार्य नहीं है। जो मुनि यह कहते हैं कि मेरी पूजा करनी चाहिये, आप पर मेरा अधिकार है, आप मुझे छोड़ अन्यत्र नहीं जा सकते, आपको आहार मुझे देना होगा, आहार स्वादिष्ट होना चाहिये, वे निश्चय से पतित हैं।

मुनि को सन्तोषी, सहिष्णु, आत्मज्ञ, जितेन्द्रिय, संयमी, गुणज्ञ, समदृष्टि, व्रती, तपस्वी, मन्दकषायी या क्षीणकषायी और मितभाषी होना चाहिये। जो अधिक बोलता है, वह व्यक्ति असत्य वचनों का प्रयोग करता है तथा भाषा समिति की अवहेलना भी करता है। जहाँ तक संभव हो मुनि को संघ में ही रहना चाहिये, एकाकी विहार करने से संयम के पालन करने में शिथिलता हो सकती है। परीषहों को सहन करने में सदा तत्पर रहने वाले उग्रोग्रतर तपस्या करने वाले, धीर गम्भीर, निर्ग्रन्थ, वीतरागी मुनि ही वन्दनीय हो सकते हैं।

नारियल के पेड़ के समान वक्रपरिणामी, लोहे के समान कठोर परिणामी, कौवे के समान परपीड़क, कुत्ते के समान कलहप्रिय, राजपुत्र के समान निरंकुश, बच्चों के समान हठग्राही, किसी भी इच्छा को पूर्ति के लिये अनशन करने वाला, पण्डों के समान दक्षिणा लेकर भोजन करने वाला, सिंह के समान अन्य को कष्ट देने वाला, सूअर के समान लोलुपी, दरिद्र के समान असाहसी, चींटी के समान घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत, व्याघ्र के समान इधर उधर स्वेच्छा पूर्वक भ्रमण करने वाला मुनिराज को नहीं होना चाहिये। मुनिराज को हंस के समान सारग्रहण करने वाला, शरत् ऋतु के जल के समान निर्मल, सूर्य की किरणों के समान प्रकाशमान, मन्द वायु के समान-गमन करने वाला, समुद्र के समान अमर्यादित (असीम, उदारता) संसार मार्ग से भय भीत, शास्त्रों का पारगामी, सत्पुरुष के समान मात्सर्य से रहित, ईर्ष्या-निन्दा-स्तुति आदि से रहित, आत्मकल्याण में संलग्न, दूरदर्शी, प्रमाद रहित सुमेरु पर्वत के समान क्षमाशील, शरीर धारण के लिये आवश्यक भोजन करने वाला, संयम में उत्साह रखने वाला, हित-मित-प्रिय वचन बोलने वाला, धर्मज्ञ, सेनापति के समान जीवों का रक्षण करने वाला, अवधिज्ञानी के समान सभी के मन के भावों को जानने वाला, महाव्रत के अंकुश के समान मन रूपी हाथी को वश में करने

वाला, किसी के ऊपर क्रोध न करने वाला, सर्वदा स्वाध्याय में रत-रहने वाला, शिष्यों के साथ सहानुभूति रखने वाला, पूर्ण अहिंसा धर्म का पालन करने वाला, पाप से दूर रहने वाला, आगम के विपरीत न चलने वाला, अन्य की निन्दा कर श्रावकों को अपनी ओर न झुकाने वाला एवं दृढ़ आचरण करने वाला होना चाहिये।

बाह्य परिग्रह को छोड़ देने पर भी जिसके अन्तरंग में परिग्रह शेष है, वह मुनि अपनी संसार सन्तति को नष्ट नहीं कर सकता है। केवल अन्तरंग के छोड़ने का दम्भ करने वाला, किन्तु बाह्य परिग्रह का धारी कभी मुनि नहीं हो सकता है। अतः बाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग करने वाले ही मुनि संसार रूपी संतति को नष्ट कर सकते हैं। जैसे एक चक्र से गाड़ी नहीं चलती है, पानी के बिना भोजन नहीं बन सकता है, बेंट के बिना कुल्हाड़ी काम नहीं कर सकती है, उसी प्रकार केवल अन्तरंग या बहिरंग त्याग भी आत्म कल्याण का साधन नहीं हो सकता है।

शिष्य की योग्यता की परीक्षा किये बिना जो दीक्षा देता है तथा योग्यता के बिना ही जो दीक्षा देता है ऐसा गुरु पाप का भागी है, वह स्वयं पदच्युत होता है और दीक्षा लेने वाले को भी कहीं का नहीं रहने देता है। गुण, ज्ञान और योग्यता की परीक्षा न कर दीक्षा देने या लेने से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता है। पहले के ऐश्वर्य, कुल, कीर्ति आदि का विचार कर दीक्षा देना भी अनुचित है। संसार के पदार्थों के साथ ममत्व बुद्धि रखने वाला मुनि तथा किसी प्रलोभन वश अस्थिर विचार के शिष्य को दीक्षा देने वाला मुनि अयथार्थ है। मुनि को राग द्वेष से रहित होकर सदा तपश्चरण में लीन रहना चाहिये और ऐसे ही शिष्यों को दीक्षा देनी चाहिये जो आत्मज्ञ हों, जिन्हें संसार से पूर्ण विरक्ति हो गई हो तथा जिनके द्वारा धर्म का प्रचार और प्रसार होने की संभावना हो। मुनि परम्परा चलाने के लिये दीक्षा देना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है, किन्तु अच्छी तरह शिष्य की परीक्षा करके ही दीक्षा देनी चाहिये। धनी-मानी, रूपवान, युवक और वाचाल व्यक्ति तभी दीक्षा का अधिकारी है, जब यह दीक्षा के रहस्य को समझ जाय तथा वास्तविकता में आत्मकल्याण करने की लगन हो।

शिष्य की परीक्षा करने के लिये कुछ समय तक उसे अपने पास रखना चाहिये। जब संयम का अभ्यास और शास्त्रज्ञान इस सीमा पर पहुँच जाय कि दीक्षा का निर्वाह शिष्य अच्छी तरह से कर सके, तो उसे दीक्षा दे देनी चाहिये। मुनिमार्ग बड़ा ही कठिन मार्ग है, इसका पालन करना सबके लिये आसान नहीं है। बिना किसी प्रलोभन और महत्वाकांक्षा के इस मार्ग का अनुसरण करने वाले ही सफल हो सकते हैं। जिनके हृदय में आत्मकल्याण की लगन लग जाती है, संसार के कार्यों और प्रलोभनों से जिन्हें विरक्ति हो जाती है, फिर उन्हें दीक्षा लेने से कोई भी नहीं रोक सकता है। वास्तविक रूप से विरक्ति होने पर व्यक्ति को एक क्षण भी गृहस्थी के जाल में रहना रुचिकर नहीं होता। श्मशान वैराग्य बहुत लोगों को होता है, थोड़े ही समय के बाद में उनका वैराग्य समाप्त हो जाता है और वे पुनः विषयों में फंस जाते हैं। अतएव अपने को अच्छी तरह जांच कर दीक्षा लेनी चाहिये। यह बच्चों का खेल नहीं है, जो आज ली जाय और कल खिलौने के समान फोड़ कर छोड़ दी जाये।

यदि मोक्ष मार्ग में लगा हुआ गृहस्थ मोह रहित हो तो वह मोही मुनिकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। अतः श्रावक के व्रत ग्रहण कर आत्म कल्याण करना आपके लिये अधिक हितकर है।

चन्द्राभ—हे स्वामिन्! अनादि काल से मैंने कितने ही राज्यों का सुख भोगा है, कितनी ही दिव्य अंगनाओं का आलिंगन किया है, किन्तु अब तो मेरा विचार इस जिनदीक्षा को ग्रहण करने का है। संसार की असारता का अनुभव मुझे हो गया है।

मुनिगुप्त मुनिराज—वत्स! मैं तुम से बहुत प्रसन्न हूँ। तुम विद्याधर राजा होकर संसार से विरक्त हो गये हो। तुम्हारा वैराग्य सच्चा है, तुमको मैं दीक्षा देता हूँ, किन्तु अभी तुम उत्कृष्ट श्रावक के ही व्रत ग्रहण करो। हाँ, अभ्यास के लिये परिग्रह का त्याग कर दो, अपनी समस्त विद्याओं को, जिनके द्वारा तुम भौतिक कामनाओं को पूरा करते थे, छोड़ दो।

चन्द्राभ ने समस्त विद्याओं का त्याग कर दिया, परन्तु एक गगनगामिनी विद्या अपने पास रखली।

मुनिगुप्त मुनिराज—वत्स! तुमने गगनगामिनी विद्या अपने पास क्यों रख ली है, इसकी तुम्हें क्या आवश्यकता है?

चन्द्राभ—प्रभो! मेरी भावना अकृत्रिम जिन चैत्यालयों के दर्शन की है। मैं सुमेरु पर्वत के अकृत्रिम जिनालयों के दर्शन करना चाहता हूँ, इसलिये इस विद्या का त्याग मैंने नहीं किया है।

हंसकर मुनिराज—वत्स! तुम क्षुल्लक दीक्षा ले लो और अपना आत्मकल्याण करो। उत्कृष्ट श्रावक धर्म का पालन करने वाला व्यक्ति जल्दी ही इस संसार से मुक्त हो जाता है। यह मार्ग मुनि धर्म पर आरूढ़ होने का सोपान है।

चन्द्राभ—प्रभो! अणुव्रतों का स्वरूप समझाइये। श्रावक कितने प्रकार के होते हैं और उत्कृष्ट श्रावक कौन होता है?

मुनिराज—वत्स! जो श्रद्धालु, ज्ञानवान् और क्रियावान् होता है, वही श्रावक कहलाता है। श्रावक तीन प्रकार के होते हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। पाक्षिक श्रावक आठ मूल गुणों का धारण करता है। यह मद्य, मांस, मधु, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग करता है। रात्रि भोजन का त्यागी होता है, जल छानकर पीता है और प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान का दर्शन, पूजन करता है। जिनेन्द्र प्रभु के वचनों का अटूट श्रद्धान करता है, शक्ति के अनुसार दैनिक षट्कर्मों का पालन करता है। सप्तव्यसन का त्यागी होगा है। धर्म प्रचार और प्रसार के लिये दान देता है, मन्दिर बनवाता है, प्रतिष्ठाएं कराता है तथा विशेष उत्सवों के द्वारा धर्म का प्रसार करता है।

नैष्ठिक श्रावक निर्दोष रूप से अतिचार रहित मूल गुणों का पालन करता है सम्यग्दर्शन को दृढ़ और निर्मल बनाता है। तथा अपने चरित्र का उत्तरोत्तर विकास करता चला जाता है। साधक श्रावक अणुव्रती या प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है—इसके तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्तम। प्रारम्भ की छह प्रतिमाओं के धारण करने वाले जघन्य, मध्य की तीन प्रतिमाओं का पालन करने वाले मध्यम और शेष दसवीं व ग्यारहवीं प्रतिमा को धारण करने वाले उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं।

चन्द्राभ—स्वामिन्! प्रतिमा किसे कहते हैं, और इनका स्वरूप क्या है?

मुनिराज—वत्स! श्रावक के ग्यारह दर्जे होते हैं, जो प्रतिमा कहलाती है। सदाचार के पालन करने के लिये कुछ कक्षाऐं बँटी हैं, ये ही प्रतिमा कहलाती हैं। अभिप्राय यह है कि सदाचार के पालन के लिये ग्यारह दर्जे हैं, जिनका पालन क्रमशः गृहस्थ करता है। जैसे विद्यार्थी कक्षा क्रम से अपने ज्ञान का विकास करता है, वैसे ही श्रावक सदाचार के कक्षा क्रमानुसार अपने चरित्र का विकास करता है। विद्यार्थी के लिये आगे वाली कक्षा में जाने पर जैसे पीछे वाली कक्षा का ज्ञान आवश्यक समझा जाता है, वैसे ही चरित्र विकास करने वाले को भी आगे सदाचार की कक्षा में जाने पर पीछे वाली सदाचार की कक्षा का चारित्र पालना आवश्यक है।

दर्शन प्रतिमा—संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर पंच परमेष्ठी के चरणों में श्रद्धापूर्वक भक्ति करना दर्शन प्रतिमा है। मूल गुणों के अतिचारों का त्याग करना, सामायिक, पूजन स्तवन करना तथा व्रत और तप का अभ्यास करना, इस प्रतिमा वाले के लिये आवश्यक है। आहार-विहार की शुद्धि, रहन-सहन की शुद्धि और कषायों को मन्द करना तथा आत्म स्वरूप का चिन्तन करना भी इसके लिये विधान है। इस प्रतिमा का धारी पर्वत के समान गम्भीर, समुद्र के जल के समान शान्त और कमल के पत्ते के समान संसार से निर्लिप्त रहता है। जैसे लोभी व्यक्ति धन से, भ्रमर पुष्प से, फूल गन्ध से, शिशु माँ से सदा चिपटा रहता है, वैसे ही इस प्रतिमा वाला भगवान् जिनेन्द्र के गुणों में सदा अनुरक्त रहता है।

जिस प्रकार सांप को देखते ही मेंढ़क, बिल्ली को देखते ही चूहा, डाकू को देखते ही पथिक, गरुड़ को देखते ही सांप, पुलिस को देखते ही चोर, कुत्ते को देखते ही बिल्ली और बाघ को देखते ही हिरण भाग जाते हैं, उसी प्रकार दर्शन प्रतिमाधारी संसार, शरीर और भोगों से मोह छोड़ देता है।

जैसे राक्षस को देखकर मनुष्य, सिंह को देखकर हाथी, अपरिचित को देखकर बच्चा, दुश्चरित्र को देखकर धर्मात्मा और व्यसनी को देखकर जितेन्द्रिय अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार दर्शन प्रतिमा वाला सप्तव्यसनों से बिल्कुल दूर हो जाता है।

इस प्रतिमा वाला अष्टांग सहित सम्यग्दर्शन का पालन करता है। ज्ञान, पूजा, कुल जाति, बल ऋद्धि, तप और शरीर का अभिमान नहीं करता तथा षट् अनायतनमिथ्या देव, मिथ्या देवालय, मिथ्या तप, मिथ्या तपस्वी, मिथ्या व्रत एवं मिथ्या ज्ञानियों की सेवा से पृथक् रहता है। निर्भय होकर संसार में विचरण करता है, किसी भी प्रकार का प्रलोभन उसे पथ भ्रष्ट नहीं कर पाता है। आत्मकल्याण की चिन्ता दिन रात उसे रहती है। यद्यपि गृहस्थी के समस्त कर्मों को करता है, किन्तु लिप्त किसी भी कार्य में नहीं होता। हानि-लाभ में समता बुद्धि रखता है, गृहस्थी का संचालन करता हुआ भी अन्याय मार्ग का अनुसरण नहीं करता। किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाता है, यद्यपि व्यापार या आजीविका के लिये कोई कार्य करता है, परन्तु अहिंसा धर्म को कभी नहीं भूलता। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग करता है। दर्शन प्रतिमा वाला अपने कषाय और विकारों को जीतने का पूरा प्रयत्न करता है।

साधर्मी भाई से वात्सल्य भाव रखता है। समस्त प्राणियों के साथ मित्रता का व्यवहार करता है। गुणी व्यक्तियों पर सदा श्रद्धा रखता है, तथा गुणियों को देखकर प्रसन्न होता है, दुःखी, रोगी एवं असहाय जीवों को देखकर दया भाव करता है और शक्ति भर उनके दुःख को दूर करने का यत्न करता है जो व्यक्ति उसके विचारों के प्रतिकूल चलते हैं, उनके साथ मध्यस्थता-तटस्थता रखता है। जिनेन्द्र भगवान् के वचनों में किसी भी प्रकार की शंका नहीं करता है, संसार के भोगों की या धन वैभव की आकांक्षा नहीं करता, निन्दा या घृणा किसी से नहीं करता, पापी व्यक्ति से भी वह वात्सल्य भाव रखता है, घृणा और पाप से डरता है, पापी से नहीं। सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, निर्ग्रन्थ गुरु एवं दयामयी धर्म में उसकी अटूट श्रद्धा रहती है। करुणा और दया उसके जीवन में बस जाती है। आत्मा के ऊपर श्रद्धा करने लगता है तथा आत्मिक गुणों को प्राप्त करने के लिये सदा तत्पर रहता है।

दर्शन प्रतिमा धारी यद्यपि व्रतों का धारी नहीं होता फिर भी शक्ति के अनुसार व्रत, उपवास करता है। शल्य का त्यागी, सदाचारी और वासना व कषायों को जीतने वाला तथा अपनी आत्मा को निर्मल करने के लिये तीर्थ यात्रा करने वाला होता

है। भगवान् के जन्मस्थान, तपस्थान और निर्वाणस्थान के पवित्र रजकणों को पाकर अपनी आत्मा की शुद्धि करता है। एकान्त स्थान में बैठकर संसार की अनित्यता का चिन्तन कर वैराग्य को उद्दीप्त करता है।

2. व्रत प्रतिमा—पञ्चाणुव्रत और सात शीलों का निरतिचार पालन करना व्रत प्रतिमा है। प्रमाद से संकल्प पूर्वक होने वाली त्रस हिंसा का त्याग करना अहिंसाणु व्रत है। इस व्रत का पालन करने वाला जान-बूझ कर किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाता है। इस व्रत के पालन करने के लिये पांच भावनाओं का पालन करना चाहिये।

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च।

अर्थात् जीवन में भले प्रकार से वचन गुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्ष्या समिति, आदाननिक्षेपण समिति और आलोकितपान-भोजन—अच्छी तरह देखकर खाने पीने की वस्तुओं को ग्रहण करना, इन भावनाओं का पालन करना चाहिये। इस व्रत के अतिचारों का भी त्याग करना आवश्यक है—

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः।

अर्थात्—बन्ध किसी प्राणी को बांधकर या रोककर रखना; वध-दण्डा, चाबुक या बेंत आदि से प्रहार करना; छेद-नाक, कान आदि अवयवों का छेदन करना; अतिभारारोपण-शक्ति और मर्यादा का विचार न कर अधिक बोझ लादना एवं अन्नपाननिरोध-भोजन आदि में रुकावट डालना या समय पर न देना ये पांच अहिंसाणु व्रत के अतिचार हैं।

वस्तु के अस्तित्व का लोप करना, जैसी वस्तु है वैसी न बतलाना, बात चीत करते समय अशिष्ट वचनों का प्रयोग असत्य बोलना है। इस असत्य बोलने को छोड़ना सत्य वचन है। असत्य भाषण करने से हिंसा का पाप लगता है। निन्दा करना, चुगली करना, कठोर वचन बोलना, अप्रिय वचन बोलना, प्राणियों के वध करने वाले वचन बोलना, असत्य में शामिल हैं। सत्य व्रत का पालन करने के लिये निम्न पांच भावनाओं को पालना (भाना) चाहिये—

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च।

अर्थात्—क्रोध, लोभ, भय और हास्य का त्याग करना तथा निर्दोष वचन बोलना, सत्याणुव्रत की भावनाएं हैं। इस व्रत के पालने के लिये भी पांच अतिचारों का त्याग करना चाहिये—

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः।

अर्थात्—मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्र भेद इन पांच अतिचारों का त्याग करना चाहिये।

किसी की गिरी हुई, पड़ी हुई, भूली हुई अर्थात् बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण न करना अचौर्याणुव्रत है। इस व्रत का पालन करने के लिये निम्न भावनाओं का पालन आवश्यक है—

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसद्धर्माविसंवादाः पञ्च।

अर्थात्—पर्वत की गुफा, वृक्षकोटर आदि में रहना; दूसरों के द्वारा त्याग किये स्थान में रहना, अपने स्थान पर दूसरे को आने से न रोकना, भिक्षा नियमों का ध्यान रखकर भिक्षा ग्रहण करना और साधर्मी से विवाद न करना, अचौर्याणुव्रत की भावना है।

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः।

अर्थात्—चोरी के लिये प्रेरित करना, चोरी की वस्तु को खरीदना, राज्य में विप्लव होने पर हीनाधिक मान से वस्तुओं का आदान-प्रदान करना, राज्य के नियमों का उल्लंघन कर व्यापार आदि करना एवं असली वस्तु के बदले में नकली वस्तु देना, अचौर्याणुव्रत के अतिचार है।

"ब्रह्मणि आत्मनि चरतीति ब्रह्मचर्यः" अर्थात् आत्मा के स्वरूप में रमण करना ब्रह्मचर्य है। विषयवासना आत्मा में विकार उत्पन्न करने वाली है तथा इसके त्याग से आत्मा अपने रूप में रमण करती है, यही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य व्रत का धारी अपनी स्पर्शनेन्द्रिय को आधीन करने के साथ रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र

इन्द्रिय को भी अपने आधीन करता है। इन्द्रियों के विषयों में उच्छृंखल रूप से प्रवृत्ति करने पर आत्मा में अब्रह्म दोष आता है।

ब्रह्मचर्य व्रत के पालन करने के लिये निम्न पांच भावनाओं का पालन आवश्यक है।

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च।

अर्थात्—स्त्रीरागकथा श्रवणत्याग—जिन कथाओं के सुनने या पढ़ने में स्त्री विषयक अनुराग जागृत हो ऐसी कथाओं का त्याग, स्त्री मनोहरांग निरीक्षण-स्त्रियों के मुख, आंख, कुच आदि सुन्दर अंगों को देखने का त्याग, पूर्वरतानुस्मरण-पूर्व के भोगे हुये भोगों के स्मरण का त्याग, वृष्येष्टरस त्याग-गरिष्ठ और प्रिय भोजन का त्याग और स्वशरीर संस्कार त्याग, शरीर के श्रृंगार का त्याग, इन पांच भावनाओं का पालन करना चाहिये। इस व्रत के अतिचार—

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीड़ाकामतीव्राभिनिवेशाः।

अर्थात् पर विवाहकरण, इत्वरिका-परि-गृहीता गमन, इत्वरिका अपरिगृहीतागमन, अनंग क्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

संसार के पदार्थों में ममत्वबुद्धि रखना परिग्रह है, इस परिग्रह का त्याग करना अपरिग्रह है। इस प्रकार इन पांचों अणुव्रतों का धारण करना व्रत प्रतिमा वाले के लिये आवश्यक है।

दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसंविभाग व्रत इन सात शीलों का भी पालन करना चाहिये। द्वितीय प्रतिमा धारी निरतिचाररूप से शील और व्रतों का पालन करता है।

द्वितीय प्रतिमावाला रक्त, मांस, पीव, चलितरस, त्याज्यवस्तु, मृतक्रीड़ा और हड्डी इन वस्तुओं के दर्शनमात्र से भोजन को त्याग कर अंतराय का पालन करता है।

3. सामायिक प्रतिमा—प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल में कम से कम दो घड़ी और अधिक से अधिक छः घड़ी एकान्त में बैठ कर आत्मचिन्तन करना चाहिये। इस प्रतिमाधारी को निम्न 32 दोषों को टाल कर सामायिक करना चाहिये—

(1) उन्मत्तचेष्टा (2) अंग संचालन (3) जिह्वा संचालन (4) डरकर सामायिक करना (5) गुरु का तिरस्कार कर सामायिक करना (6) गुरु के प्रतिकूल होकर सामायिक करना (7) सामायिक करते हुए संकेत करना (8) मस्तक ऊपर को उठाना (9) काँपना (10) संघ विरोधी होकर सामायिक करना (11) गुरु के सामने अभिमान में आकर सामायिक करना (12) आवाज करना (13) गुनगुनाना (14) घोड़े के पैर से समान पांव टेढ़ा करना (15) लता के समान चंचल होना (16) ऊपर देखना (17) नीचे देखना (18) अपने शरीर को देखना (19) कौवे के समान तिरछा देखना (20) घोड़े के मुख में लगी लगाम के समान मुंह हिलाना (21) शरीर का स्पर्श करना (22) अंगुली चटकाना (23) हिलना (24) पागल की तरह चारों दिशाओं को देखना (25) सामायिक में इधर-उधर देखना (26) दांत कटकटाना (27) मस्तक पर हाथ फेरना (28) शरीर खुजलाना (29) भोगों का चिन्तन करना (30) आंखों से संकेत करना (31) जबरदस्ती सामायिक करना (32) प्रमादी होना।

4. प्रोषधोपवास—प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को निरतिचार सोलह प्रहर का उपवास करना प्रोषधोपवास प्रतिमा है। प्रोषध एकाशन करने को कहते हैं, दो एकाशन सहित एक उपवास करना प्रोषधोपवास है।

5. सचित्तत्याग प्रतिमा—कच्चे फल-फूल, वनस्पति आदि सचित्त पदार्थों का त्याग करना सचित्त त्याग प्रतिमा है।

6. दिवामैथुन त्याग या रात्रिभोजन त्याग प्रतिमा-दिन में मैथुन करने का त्याग करना तथा रात को चारों प्रकार के भोजन करने का त्याग करना रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा है।

7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा—मन, वचन और काय से स्त्री विषयक अभिलाषा का त्याग करना तथा संसार की समस्त स्त्रियों में मातृत्व भावना का जाग्रत हो जाना

ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। शरीर श्रृंगार, गरिष्ठ भोजन आदि का भी त्याग इस प्रतिमाधारी को करना पड़ता है।

8. आरम्भ त्याग प्रतिभा—घर—गृहस्थी के कार्यों का त्याग करना आरम्भ त्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमा का धारी हिंसा के कारण नौकरी, खेती वाणिज्य आदि आरम्भ क्रियाओं से विरक्त हो जाता है।

10. परिग्रह त्याग प्रतिमा—धन, धान्य आदि दस प्रकार के बहिरंग परिग्रह तथा शरीर आदि पर पदार्थों से आत्मबुद्धि रहित होकर अखंड, अविनाशी आत्म स्वरूप में स्थिर होना परिग्रह त्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमा का पालन करने वाला घर—गृहस्थी का भार अपने पुत्र आदि पर छोड़कर दो-चार आवश्यक वस्त्र आदि लेकर जिनालय या घर के किसी एकान्त स्थान में रहता है। भोजन के लिये घर का व्यक्ति या अन्य कोई बुलाता है तो जाकर भोजन कर लेता है।

11. अनुमति त्याग प्रतिमा—चैत्यालय या वन में रहते हुए घर के किसी भी लौकिक कार्य में सलाह नहीं देना अनुमति त्याग प्रतिमा है।

उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा—घर छोड़कर वन में जाकर गुरुओं के पास दीक्षा ग्रहण करना तथा तपश्चरण करते हुए केवल लंगोटी या खंड वस्त्र धारण कर भिक्षावृति से भोजन करना उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा है। इसके दो भेद हैं—क्षुल्लक और ऐलक। क्षुल्लक लंगोटी और चादर दोनों धारण करते हैं। परन्तु ऐलक केवल लंगोटी ही धारण करते हैं।

इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाओं के कारण श्रावक ग्यारह प्रकार के होते हैं।

एक दिन उसकी इच्छा उत्तर मथुरा के जिनमन्दिरों के दर्शन की हुई। उसने मन में विचार किया कि वचनों का उल्लंघन कर अपने मन के अनुसार चलने वाले को सुख कहाँ? इस प्रकार निश्चय कर मुनिगुप्त महाराज के पास जाकर नमोऽस्तु कर बैठ गया और अवसर पाकर अपनी इच्छा प्रकट की।

गुरु—वत्स! गुणों की वृद्धि करना, वैराग्य बढ़ाना, परिणामों को शांत रखना, इन्द्रियों तथा मन को वश करना, चरित्र पालन में सजग रहना, यही हमारा तुम्हारे

लिये उपदेश है। यात्रा कर जल्दी वापस आना, निर्गुण, चरित्रहीन के पास कभी मत जाना, अन्यथा गुण दूषित हो जायेंगे। अपने गुणों में दोष लगाकर प्रमादी बनना बड़ी भारी गलती है। वरुण महाराज की रानी रेवती को आशीर्वाद कहना तथा उडूर भट्टारक को प्रतिवंदना कहना।

ब्रह्मचारी हंसकर—गुरुदेव! आपने अन्य श्रावकों को कुछ भी नहीं कहा, तथा अभव्यसेन आदि 100 मुनिराजों के लिये कुछ भी नहीं कहा, क्या बात है? क्या आपका मात्र इन दोनों से ही कोई सम्बन्ध है?

मुनिगुप्त भट्टारक—वत्स! तुम अपनी शंकाओं का समाधान स्वयं प्राप्त करोगे। नीम के पेड़ पर कितना ही दूध डाला जाय फल कडुवे ही होंगे, कभी भी मीठे नहीं हो सकते। अज्ञानी को अच्छा उपदेश देने पर भी कुफल ही निकलता है।

ब्रह्मचारी रास्ते में विचारने लगा—गुरुदेव ने कहा है कि तुम्हें अपनी शंकाओं का उत्तर स्वयं मिल जायगा अत: मैं रेवती रानी और उंडूर महाराज की परीक्षा लूँगा, गुरुदेव का प्रेम इन दोनों पर ही अधिक क्यों है? गुरुदेव अष्टांग निमित्त ज्ञानी हैं, निमित्तज्ञान के बल से समस्त बातों को जानते हैं। इनके वचनों में अवश्य कोई रहस्य है। इस प्रकार सोच-विचार करता हुआ ब्रह्मचारी विमान द्वारा अभव्यसेन महाराज के पास आया।

अभव्यसेन मुनि—वत्स! कहाँ से आये हो?

ब्रह्मचारी—महाराज! आपके तप की ख्याति सुनकर मैं पाण्ड्य देश की दक्षिण मथुरा नगरी से आपके दर्शन करने आया हूँ।

ब्रह्मचारी के इन वचनों को सुनकर अभव्यसेन मुनि बहुत प्रसन्न हुए।

ब्रह्मचारी—अभव्यसेन आचार्य के सम्यक्त्व की परीक्षा करने के लिए दो-चार आवश्यक बातों के बाद कहने लगा हे महाराज! आपने संसार के भोग विलासों को छोड़कर यह भेष क्यों धारण किया है? स्वर्ग-मोक्ष किसने देखा है? कौन इसे प्राप्त कर सकता है? आप व्यर्थ कष्ट क्यों उठाते हैं? श्रावकों को भी कष्ट देते हैं। प्रत्यक्ष को छोड़कर परोक्ष की आशा से आप ऐसा क्यों कर रहे हैं? जब तक

जीवन है, आनन्द से रहना चाहिए, व्यर्थ कष्ट सहने से क्या लाभ? यह तो निर्बुद्धियों का काम है? धर्म-धर्म कहकर आप व्यर्थ ही अपने शरीर को कष्ट देते हैं।

अभव्यसेन आचार्य—लोग कहते हैं कि मोक्ष में सुख है, आगम में भी बताया है। मैंने उन्ही लोगों के कहने से इस कष्ट को स्वीकार किया है, क्या जाने वास्तविक बात क्या है? प्रत्यक्ष में तो आनन्द से खाना-पीना, मौज उड़ाना ही सब कुछ है? मरने के बाद किसने देखा है कि मोक्ष मिलता है? शरीर जलकर यहीं राख हो जाता है, अतएव भाई! मैं भी गतानुगतिक हूँ। मेरी समझ में कुछ नहीं आता है।

ब्रह्मचारी ने विद्याबल से मायामयी त्रसजीवों को उत्पन्न किया, उनको पैरों से कुचलने लगा तथा बिना प्रयोजन के प्राणियों को कष्ट देने लगा। अभव्यसेनाचार्य ने उसके इस कृत्य में बाधा नहीं दी तथा उसे जीव मारते हुए न रोका। वह हंसते हुए अपने स्थान पर बैठे रहे।

अभव्यसेन जब शौच करने गये तो उन्होंने उनके कमण्डलु के प्रासुक जल को सुखा दिया। जब जल की आवश्यकता हुई तो वे बहुत चिन्तित हुए। ब्रह्मचारी ने विद्याबल के प्रभाव से वहाँ हरी घास भी लगा दी और कहने लगा कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पति में जीव हैं यह किसने देखा है। अत: तालाब का पानी काम में लेना चाहिए। आचार्य ने तालाब का पानी लेकर शुद्धि की।

पुन: ब्रह्मचारी—हे महाराज! अनेक गाजे-बाजे के साथ संगीत पूर्वक घी, दधि आदि से वीतरागी प्रभु का पुण्यात्मा भव्य जीव अभिषेक करते हैं, इसमें पुण्य क्या है?

अभव्यसेन—अरे भाई! सुना तो हमने भी है कि पुण्य होता है, पर पता नहीं ठीक कहाँ तक है।

ब्रह्मचारी—जिस प्रकार कमल जल में रहते हुए भी जल से भिन्न रहता है, सोना माणिक्य के साथ मिलाये जाने पर भी भिन्न रहता है, कर्णफूल कान में पहनने

पर भी कान से अलग रहता है, आकाश पृथ्वी से भिन्न है, नक्षत्र मेरु की प्रदक्षिणा करने पर भी उससे भिन्न हैं, इसी प्रकार यह अभव्यसेन भी आप्त आगम के श्रद्धान से रहित है। यह मिथ्यात्वी है, जिस प्रकार नीम के बीज में कभी भी माधुर्य नहीं आ सकता है, सूर्य की किरणें कभी भी शीतल नहीं हो सकती हैं, उसी प्रकार अभव्य में कभी भी सम्यक्त्व आ नहीं सकता है।

जैसे पीतल की मूर्ति काली (स्वर्णिम नहीं) ही रहती है, उसी प्रकार अभव्य जिनदीक्षा लेकर भी पापी ही रहता है, वह अपना आत्म कल्याण नहीं कर सकता है। "संस्कार शतेनापि न गुण्डा कुंकुमायते" अर्थात् सैंकड़ों प्रकार से कारीगरी करने पर भी पत्थर जैसे कुंकुम नहीं बन सकता है, उसी प्रकार अभव्य शास्त्राभ्यास, दीक्षा आदि के द्वारा भी भव्य नहीं बन सकता है। यह अभव्यसेन शास्त्राभ्यासी है, बड़ा भारी विद्वान माना जाता है, परन्तु पूरा मिथ्यात्वी है। इसका निर्वाण नहीं हो सकता है, यह अविवेकी है।

इसके अनन्तर वह ब्रह्मचारी उंडूर भट्टारक के पास गया। उंडूर भट्टारक भिक्षा से लौट रहे थे। ब्रह्मचारी ने विद्यावल से खटमल, चींटी तैयार की और मारना आरम्भ किया। उंडूर भट्टारक इस कृत्य को देखकर विचारने लगे—जिस प्रकार बच्चा अज्ञानता के कारण मल को हाथ में लेकर शरीर में लगा लेता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अशुभकर्म के उदय से पाप करता है। भट्टारक उस निर्दय व्यक्ति के पास गये और सभ्यता पूर्वक मधुर वचन कहने लगे—दया बिना सद्धर्म, विश्वास बिना स्त्री, आत्मा बिना शरीर और शूरता बिना युद्ध शोभा नहीं देते हैं। यह जैनधर्म जीव मात्र को कल्याण करने वाला है, पाप समुदाय को नष्ट करने वाला है, संसार के दुःखों को जलाने वाला है एवं सुव्रत रूपी निधि से पूर्ण है। इसके समान संसार में अन्य कोई वस्तु सुख दायक नहीं है।

आप जिनेश्वर का वीररूप धारण कर ऐसा निन्द-कृत्य क्यों कर रहे हैं? जिनागम का अध्ययन कर अपना वास्तविक कल्याण क्यों नहीं करते? परमागम का अध्ययन कर सदा सद्धर्म के स्वरूप को जानने का प्रयत्न होना चाहिए। दया सब धर्मों का मूल है, निर्दयता के समान अन्य पाप नहीं है जो व्यक्ति निर्दय होकर

अन्य जीवों के प्राण लेता है, वास्तव में वह महान् पापी है। उसका कल्याण कभी नहीं हो पाता है। ब्रह्मचारी-महाराज! आप क्या कह रहे हैं? शरीर को तपश्चर्या में सुखाना, लौकिक सुखों को छोड़ना और स्त्री-पुत्र आदि छोड़कर पारलौकिक सुखों की कामना करना मूर्खता नहीं तो क्या है? जिन छोटे जीवों को मैं मार रहा हूँ, उनके जीवित रहने से लाभ ही क्या है? इनको तो मरना ही है। मैं इनको मार कर दुःख से मुक्त कर रहा हूँ।

उंडूर भट्टारक—जो वस्तुएं प्रत्यक्ष नहीं हैं, उनका भी अस्तित्व युक्ति से सिद्ध होता है। जैसे आँख अपने को नहीं देख सकती है, फिर भी उसका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है, उसी प्रकार परोक्ष बातों की भी सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। अपनी मां से व्यक्ति जन्म लेता है, किन्तु जन्म लेते समय इस बात को वह नहीं जानता फिर भी यह विश्वास करना पड़ता है कि यह हमारी मां है, उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान के वचनों का विश्वास करना पड़ेगा, आगम में जो पुण्य-पाप की व्याख्या की गई है, वह ठीक है। निन्दनीय कार्य पाप-कृत्य माने जाते हैं, तथा जिन कार्यों से अपनी या पर की भलाई होती है वे पुण्य कृत्यों में शामिल हैं। त्यागी व्यक्ति सुखों का त्याग थोड़े ही करता है, बल्कि सुख प्राप्ति के लिए वह प्रयत्न करता है। स्त्री-पुत्र, धन वैभव के मूल हैं, यह सब ऐन्द्रिक क्षणिक सुख है, इसका परिणाम दुःख ही है। अतः जिस सुख का परिणाम दुःख हो, उसे कौन बुद्धिमान धारण करेगा? वास्तविक बात यह है कि शाश्वत सुख की उपलब्धि के लिए त्याग किया जाता है, आत्मा के वास्तविक स्वरूप की उपलब्धि भी त्याग से ही होती है। वासना और कषाय आत्मा को विकृत करते हैं, इनसे दुःख ही मिलता है, अतः त्याग द्वारा सच्चा सुख प्राप्त किया जाता है।

जो तुमने अज्ञानता पूर्वक यह कहा है कि जिन छोटे जीवों को मार रहा हूँ उनके जीवित रहने से लाभ क्या? यह भी तुम्हारा कथन विवेक शून्य है। संसार में सभी प्राणियों को अपने-अपने प्राण प्रिय हैं। जैसे हमें मारने से कष्ट होता है, वैसे ही इन प्राणियों को भी कष्ट हो रहा है। हमारे समान सभी जीवों को जीवित रहने का अधिकार है, अपने को विवेकी समझने वाले प्राणी का यह कर्त्तव्य है कि वह सुख-शांति से संसार के अन्य जीवों को जीवित रहने दे। जीना अधिकार

है और अन्य को जीवित रहने देना कर्त्तव्य है। जो व्यक्ति कर्त्तव्य को नहीं समझता है वही इस प्रकार की अनर्गल बातें कहेगा, कोई किसी को मार कर दु:ख से नहीं छुड़ा सकता है। दु:ख से तभी छुड़ाया जा सकता है, जब उसे सद्धर्म का उपदेश दिया जाय और उस धर्म का वह प्राणी अनुसरण कर अपना कर्त्तव्य पूरा करे। अतएव भाई! आपको इस प्रकार की क्रूरता का त्याग करना चाहिए। अहिंसा के समान संसार में सुख और शांति देने वाला अन्य कोई सिद्धान्त नहीं है।

ब्रह्मचारी—महाराज! आपकी बातें युक्ति संगत तो अवश्य प्रतीत होती हैं। परन्तु यह बतलाइये कि जिस व्यक्ति ने तप द्वारा मरकर स्वर्ग प्राप्त कर लिया है, क्या उसने कभी आकर आपसे कहा है? जिससे आप इस प्रकार की बातों का विश्वास करते हैं।

उंडूर भट्टारक—अरे भाई! मैंने पहले ही कहा था कि आत्मा का अस्तित्व स्वयं सिद्ध है। मरने पर शरीर यहीं रह जाता है और आत्मा अपने शुभाशुभ फलों के अनुसार अन्य योनि में चली जाती है। यदि कोई व्यक्ति जीवन में अच्छे कार्य करता है तो उसका शुभ बन्ध अवश्य होता है तथा वह अपनी कर्मानुसार अच्छी गति को पाता है। भगवान जिनेन्द्र सर्वज्ञ थे, उनके वचन कभी असत्य नहीं हो सकते हैं, अत: जिनागम की सभी बातें सत्य हैं, उनका श्रद्धान करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। अनेकान्त सिद्धान्त के द्वारा आप स्वयं षड्द्रव्य पञ्चास्तिकाय, सप्ततत्त्व, षट्काय, छ:लेश्या आदि के सत्यासत्य को जान सकते हैं। इन द्रव्य, तत्त्व और लेश्याओं के स्वरूप में तनिक भी अन्तर नहीं मिलेगा। सर्वज्ञ प्रभु संसार के त्रिकालवर्ती पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से जानते थे। वीतरागी होने के कारण उनके वचनों में किसी प्रकार का दोष नहीं है। जैसे सूर्य अपनी उष्णता नहीं छोड़ता, चन्द्रमा शीतलता नहीं छोड़ता, कमल जल को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार जिनागम में वर्णित तत्त्व कभी झूठ नहीं हो सकते। सम्यग्दृष्टि जीव को सभी पदार्थों का यथार्थ अनुभव है, वह जिनेन्द्र प्रभु के वचनों को बिल्कुल सत्य और निर्दोष समझता है।

मुनिराज के इस उपदेश को सुनकर वह ब्रह्मचारी बहुत प्रसन्न हुआ। अपना वास्तविक भेद उनके सामने प्रकट कर क्षमा याचना की तथा भक्ति पूर्वक उंडूर भट्टारक की परिचर्या की तथा मुनिगुप्त भट्टारक की प्रतिवंदना कह सुनाई।

अगले दिन ब्रह्मचारी रेवती रानी की परीक्षा के लिए गया। उसने पूर्व दिशा में जाकर विद्या के बल से अपना ब्रह्मा का रूप बनाया। श्रेष्ठ कमण्डलु हाथ में लिया, चांदी का छत्र सिर पर धारण किया, यज्ञोपवीत कन्धे पर धारण किया, हंस पर सवार हो चतुर्मुखों से सहित साक्षात् ब्रह्मा बन कर आया। श्रावक ब्रह्मा के आने का समाचार प्राप्त कर एकत्रित होने लगे। नाम श्रावक, चर्चा श्रावक, यथार्थ श्रावक, कुमति श्रावक, कार्यार्थी श्रावक, नवीन श्रावक पूजा सामग्री लेकर तमाशा देखने के बहाने वहाँ आये। जिस समय राजा वरुण की सभा में ब्रह्मा के आने का समाचार प्राप्त हुआ, उस समय राजा रेवती रानी सहित चार हजार मुकुट बद्ध राजाओं की सभा में विराजमान था। राजा ने सभा में कहा—हम धन्य हैं, हमारे राज्य में कमलासन सहित साक्षात् ब्रह्मा अनेक देवों सहित पधारे हैं। अत: उनके दर्शन कर हमें कृतार्थ होना चाहिए।

रानी—महाराज! आप कैसी बातें कर रहे हैं। यह दर्शन करने के योग्य नहीं है।

राजा—प्रिये! क्या परमेश्वर के दर्शन भी नहीं करने चाहिए। मैं तो अवश्य दर्शन करने जाऊँगा, दर्शन से अवश्य कृत-कृत्य हो जाऊँगा।

रानी हंसकर—महाराज! वह ब्रह्मा नहीं है, कोई मायाचारी व्यन्तर या विद्याधर कपट वेष धारण कर ठगने के लिये आया होगा। हमारे आगम में बताया गया है कि इस अवसर्पिणी काल में एक ही आदि ब्रह्मा नाम का तीर्थङ्कर हुआ है, जो मोक्ष भी प्राप्त कर चुका है। अत: यह कोई मायावी ब्रह्मा है, वास्तविक ब्रह्मा नहीं। आप चाहे भले ही दर्शन करने चले जायँ, मैं तो इस झूठे, पाखण्डी के दर्शन करने नहीं जाऊँगी।

नागरिक बिना विचार किये दर्शनकर आए और सबने ब्रह्मा की पूजा की। ब्रह्मचारी ने देखा कि रानी नहीं आयी तो वह सोचने लगा कि आज तो मेरा परिश्रम व्यर्थ गया, कल पुन: परीक्षा करूँगा।

अगले दिन वह दक्षिण दिशा में गया और वहाँ गले में कौस्तुभ, चारों हाथों में गदा, शंख, चक्र और धनुष लिए, नील वर्ण के पर्वत के समान रूप धारण करके

गरुड़ पर सवार होकर प्रकट हुआ। उसने सोलह हजार देवियों के सहित विष्णु का रूप धारण किया। नगर में जब वह विष्णु पधारे तो सर्वत्र हल्ला हो गया कि आज विष्णुभगवान् पधारे हैं। उनकी पूजा के लिए सभी नागरिक एकत्रित होने लगे, धीरे-धीरे यह समाचार राजसभा में पहुँचा। राजा ने रेवती रानी की ओर मुख कर कहा—कल ब्रह्मा आये थे, आपको उनके ऊपर विश्वास नहीं हुआ। आज साक्षात् विष्णु भगवान् पधारे हैं, अत: आपको अवश्य उनके दर्शन के लिए जाना चाहिये। दर्शन से आत्मा पवित्र हो जायगी और इच्छाएं पूर्ण हो जायेंगी।

रेवती रानी—राजन्! यह भी कोई मायावी है, इसकी पूजा अज्ञानी और पाखण्डी ही करेंगे। यह केशव या नारायण नहीं है। हमारे आगम में बताया गया है कि नव नारायण पहले हुए हैं, वे अब यहाँ कहाँ से आवेंगे? वे आज से लाखों वर्ष पहले हुए हैं, उनका अब इस रूप में अस्तित्व कैसे सम्भव है? यह कोई अवश्य मायाचारी है। रानी की बातों ने राजा को आश्चर्य में डाल दिया।

ब्रह्मचारी रेवती को आया हुआ न देखकर निराश हुआ और उस रूप को छोड़कर पश्चिम दिशा में जाकर महादेव का रूप धारण किया। उसने अपनी जटाओं में गंगा, मस्तक पर चन्द्रमा, शरीर में भभूति, हाथ में त्रिशूल, कर में सर्पों के कंकण, बगल में पार्वती धारण की। वृषभ पर सवार होकर महादेव के रूप में प्रकट हुआ। नगर में चर्चा होने लगी कि अब तक सुनने में आया था कि महादेव नाम का कोई देव है, किन्तु इस समय हम लोग प्रत्यक्ष दर्शन कर कृतार्थ हो गये।

वरुण महाराज ने इस चर्चा को सुनकर रेवती रानी से कहा—हे कमल मुखी! आप मेरे साथ सीधे चलिये और महादेव के दर्शन कर अपने को सफल कीजिये। शंकर संसार में कल्याण करते हैं, इनके समान शक्तिशाली अन्य कोई भी देव नहीं है, व्यर्थ की हठ करना अच्छा नहीं होता है।

रानी—देव! आगम में ग्यारह रुद्रों का वर्णन आया है, वे सभी आज से लाखों वर्ष पहले हो चुके हैं। इस काल में रुद्र नहीं आ सकते। यह कोई मायाचारी है, व्यन्तर या विद्याधर के सिवा अन्य कोई नहीं है। रानी के न जाने से राजा भी महादेव के दर्शन करने नहीं गया।

ब्रह्मचारी इस बार भी रानी को आया हुआ न देखकर आश्चर्य में पड़ गया और अपनी विद्या को विसर्जित किया। अगले दिन वह उत्तर दिशा में आया और जगत को आश्चर्य में डालने वाला रूप बनाया। अशोक वृक्ष तैयार किया, अष्ट प्रातिहार्य बनाये, दिव्य ध्वनि शुरु की, देवों द्वारा पुष्पों की वर्षा होने लगी। पृथ्वी निवासियों को आश्चर्य में डालने वाला समवशरण बनाया और भगवान महावीर स्वामी का रूप धारण किया। देखने में बिल्कुल वह महावीर जैसा ही लग रहा था।

तीर्थङ्कर का समवशरण आया हुआ जानकर सब पूजा के लिए गये और भक्तिपूर्वक कमल, पुष्प, जल, चन्दन, अक्षत, नैवेद्य, फल, धूप, दीप आदि से उनकी पूजा की। पूजा करने और वर्द्धमान भगवान के आने की बात राजा वरुण के कानों में पहुँची।

राजा—हे राजीवलोचनि! ब्रह्मा, विष्णु और महादेव के दर्शन नहीं किये, पर आज तो अपने कुल देवता वर्द्धमान स्वामी का समवशरण आया है, अत: अब आप दर्शन के लिए चलिए।

रानी—कैवल्य श्री को प्राप्त किए जिनेन्द्र इस काल में कहाँ से आ गये? 24 तीर्थङ्कर तो पहले ही हो चुके हैं, अब 25 वां तीर्थंकर कहाँ से आयेगा? जो भगवान निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं, वे कहाँ से आवेंगे? मैं इन्हें तीर्थंकर मानने को तैयार नहीं हूँ, अवश्य ही यह कोई मायावी है। राजा को रेवती रानी के वचनों ने आश्चर्य में डाल दिया। वह सोचने लगा, बात ठीक है। वास्तव में 25 वां तीर्थंकर कहाँ से आयेगा?

राजा—प्रिये! सभी लोग आश्चर्य में पड़कर क्यों इन्हें महावीर मानते हैं; क्या सभी लोग मिथ्यादृष्टि हैं। कुछ समझ में नहीं आता है, बात क्या है?

रानी—स्वामिन्! जैसे सभी पुष्पों में फल नहीं लगते। सभी वृक्ष चन्दन के नहीं होते हैं। सभी नारियां सती नहीं होती, उसी प्रकार सभी व्यक्ति सम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं। कतिपय व्यक्ति ही सम्यक्त्व के धारी हैं। देव, शास्त्र और गुरु का सच्चा श्रद्धान जिसे है, वह कभी भी इस प्रकार के जाल में फंस नहीं सकता है।

जब अबकी बार भी रानी ब्रह्मचारी के पास नहीं गयी तो उन्होंने उसे स्थिरमति समझा। पश्चात् उसने साधु का रूप धारण किया और चर्या के लिए निकला। रानी ने उसको पड़गाहा और भीतर चौके में ले गई। ब्रह्मचारी ने रानी को सम्यग्दृष्टि समझा तथा अपना वास्तविक रूप प्रकट कर मुनि गुप्त भट्टारक का आशीर्वाद कहा। अब ब्रह्मचारी को मुनि गुप्त भट्टारक की सारी बातें समझ में आ गयी।

कुछ दिनों के बाद रेवती रानी ने सुव्रता नाम की आर्यिका से दीक्षा ग्रहण की और तप कर सन्यास पूर्वक मरण किया, जिससे सोलहवें स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुई। 22 सागर की आयु प्राप्त कर सुख भोगने लगी। इस प्रकार राजा श्रेणिक को गौतम स्वामी ने अमूढ़ दृष्टि अंग की कथा कही।

॥ पांचवीं कथा समाप्त ॥